प्रकृति

स्वर्गीय पण्डित रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी, एम० ए०, पी० आर० एस०,
प्रिंसपल, रिपन-कालेज, विरचित बँगला-पुस्तक का
हिन्दी-अनुवाद ।

अनुवादक—

श्रीयुक्त द्वारकानाथ मैत्र,
कृषि-कालेज, नागपुर ।

प्रकाशक—

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग ।

तृतीय संस्करण] १६२४ [मूल्य १)

Printer : R. P. Bajpai, the Krishna Press, Allahabad.
Publisher : K. K. Mittra, the Indian Press, Ld., Allahabad.

विषय-सूची

—:o:—

भूमिका

Blessings on Science! When the earth seemed old,
When Faith grew doting; and our reason cold,
'T was she discovered that the world was young,
And taught a language to its lisping tongue.

—*Mackay.*

यह कहना अत्युक्ति न समझना चाहिए कि हिन्दी-साहित्य का मैदान प्रायः सूना पड़ा है। दो-चार क़िस्से-कहानियों, नाटक, उपन्यास या काव्य आदि पुस्तकों के होने से हिन्दी-साहित्य का भाण्डार भरा-पूरा नहीं कहला सकता। बड़े खेद की बात है कि इस विषय की ओर बहुत कम मनुष्यों का ध्यान आकर्षित होता है। जिसको राष्ट्रभाषा बनाने का अभिमान किया जाता है उसके साहित्य की यह दशा देख कर मर्म्मान्तिक वेदना ही नहीं होती बरन लज्जा से सिर भी अवनत हो जाता है। साहित्य ही जातीय संगठन तथा राष्ट्रीयत्व के प्रचार करने का मुख्य द्वार है।

आज-कल बहुत से ऐसे नवयुवक पाये जाते हैं जो विदेशी भाषा में पारंगत, अनुभवी तथा धुरंधर लेखक। हैं। परन्तु यह लिखते लेखनी अश्रु-वर्षण करती है कि उन लोगों की दृष्टि में हिन्दी एक तुच्छ वस्तु है। जब तक मातृ-भाषा हिन्दी के साहित्य-भाण्डार की पूर्त्ति विज्ञान, शिल्पकला इत्यादि की पुस्तकों से न

की जायगी तब तक एकता अथवा राष्ट्रीयत्व का प्रचार करना दुराशामात्र है और देश अज्ञानान्धकार में पड़ा रह कर दिनोंदिन अधोगति को प्राप्त होता जावेगा। क्या हिन्दी के भाग्य में भी वह दिन बदा है जब इसके सुसंतानों के ध्यान में यह बात आवेगी और वे लोग इसकी उन्नति में कटिबद्ध होंगे ? धन्य वह शुभ मुहूर्त्त होगा और धन्य वह घड़ी होगी।

और एक बात यह है कि अधुना एक ऐसी हवा बही है कि लोगों की प्रवृत्ति अनर्थक, तथा मन में विकार उत्पन्न करनेवाली पुस्तकों के पढ़ने की ओर बहुधा देखी जाती है। ऐसे लोग बहुत कम पाये जाते हैं जिनको इस बात का विचार है कि जीवन का अधिकांश सुख और चरित्र-गठन पुस्तकों के अच्छे चुनाव पर निर्भर करता है। इस दशा में ऐसी पुस्तकों का निर्माण किया जाना अत्यावश्यक है जो विज्ञान तथा शिल्पकला-सम्बन्धी तत्त्वों से पूर्ण हों, भाषा जिनकी सरल, मनोग्राही और कुतूहल को उत्पन्न करनेवाली हो। तभी उनका ध्यान उपन्यास इत्यादि की ओर से मुड़ कर विज्ञान की ओर आकर्षित होगा। मुझको यह लिखते अत्यन्त हर्ष होता है कि ग्रन्थकार ने इस पुस्तक को मनोरंजक तथा हृदयग्राही बनाने में किसी बात को उठा नहीं रक्खा और इसके साथ ही साथ वैज्ञानिक विषयों की समीचीन आलोचना भी की है।

जीवन का संघर्ष और श्रेष्ठ का उद्भव (Struggle for existence and survival of the fittest) का प्राकृतिक नियम अनन्तकाल से चला आता है। जीवमात्र को अपने चतुर्दिक् की

वस्तु, अवस्था तथा समाज के अनुसार चलना पड़ता है। और जो इस नियम को सिर नहीं झुकाते उनको बाध्य होकर इस धरा-धाम से कूच करना पड़ता है। वर्त्तमान जगत् के भीषण संघर्ष के समय जातीय अस्तित्व को स्थिर रखने के लिए 'दधि-आनय—दध्यानय' इत्यादि सूत्र के घोखने से काम न चलेगा। अधुना कालवारिधि के किनारे केवल खड़े रह कर उत्ताल तरङ्ग-माला के गिनने से मनोरथ सिद्ध न होगा और न क्षुद्र जलाशय के भीतर कूपमण्डूक की नाईं आबद्ध रह कर यह सोचने से कि बड़े मज़े में हैं, कामना पूर्ण होगी। निराशा के तीव्र दंशन के क्षोभ को मिटाने के लिए वर्त्तमान जगत् की शिक्षा दीक्षा को भ्रान्तिमूलक बताना तथा मानव-हृदय में ज्वालामयी तृष्णा को उत्पन्न कर सुख, शान्ति और आध्यात्मिक चिन्ताशीलता के पथ को कंटकों से समाकीर्ण करनेवाली समझना केवल 'अंगूर खट्टे हैं' की कहावत को चरितार्थ करना है।

अधुना उन्नीसवीं शताब्दी के ज्ञान और प्रतिभा की रश्मि को लक्ष्य कर दौड़ना पड़ेगा। क्योंकि

जैसी बहै बयार पीठ तैसी ही दीजै।

यह समय हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहने का नहीं है। यदि जगत् में जीवित जाति होने का हौसला है तो अतीत गौरव की दुहाई देने की, अपनी गुँडरी में आबद्ध रह कर निष्फल सस्वार्थ-गवेषणा में समय नष्ट करने की तथा जात्यभिमान और पाण्डित्या-भिमान में फूले न समा कर उच्च नीच के कल्पित भेद को दृढ़ करने की प्रवृत्ति को परित्याग कर जीवविद्या की ढाल, रसायन-

विद्या की तलवार और पदार्थविद्या की बर्छी लेकर वैज्ञानिक समर-क्षेत्र में अवतीर्ण हो जीवन-संग्रर्ष में दूसरी जाति के साथ द्वन्द्वयुद्ध में प्रवृत्त हूजिए, नहीं तो अस्तित्व का लोप अनिवार्य्य है।

क्या प्राचीन समय के भाला बर्छी को लेकर कोई आधुनिक समय के डिनामाइट, तोप इत्यादि का सामना कर सकता है। अधुना साइंस के प्रताप से मनुष्य ने प्रकृति के ऊपर कितना आधिपत्य जमा रक्खा है! मनुष्य जितना ही प्रकृति देवी से घनिष्ठता करना चाहता है, अवगुण्ठनवती प्रकृति देवी धीरे धीरे अपना घूँघट खोल प्रसन्नचित्त से उससे उतनी ही बातें करने के लिए अग्रसर देख पड़ती है। दशों दिक्पाल मानों विज्ञान के सामने हाथ जोड़े खड़े हैं। जल पर तो आधिपत्य जमाये बहुत दिन हुए। समुद्र देवता की क्या ताब कि चूँ तक कर सकें। उनके वक्षःस्थल पर से प्रतिदिन लाखों पोत आवागमन कर रहे हैं। थल का कहना ही क्या है। पृथ्वी बेचारी को जैसा नाच नचाओ, वह वैसा ही नाचने को प्रस्तुत है। वायु को भी अब वश में कर लिया है, बहुत दिनों से टालमटोल तथा युद्ध करने के पश्चात् वायु ने अब हार मान कर विज्ञान से संधि कर ली है। वह दिन निकट ही है जब वायुमण्डल में रेल की नाईं हवाई जहाज़ चलने लगेंगे और यात्रियों के आवागमन के लिए बेखटके उपयोग में लाये जावेंगे। इन्द्रदेव ने परास्त हो अपना कठिन वज्रदण्ड विज्ञान को सौंपा है जिसके प्रताप से तार इत्यादि का काम बेधड़क चल रहा है। साइंस! बलिहारी तुम्हारी महिमा

जी ! असम्भव को सम्भव कर दिखाना तुम्हारा ही काम है। जड़ पदार्थों का समूह मनुष्य की सी बातें करे ! यह तुम्हारे ही प्रताप का फल है कि बिना तार वा किसी लगाव के हज़ारों मीलों के समाचार चुटकी बजाते बैठे बैठे ज्ञात हो जाते हैं। तुम्हारे इस ऐन्द्रजालिक महत्व की बलैया लूँ। मानव ! सर्वशक्तिमान्, अशरणशरण विज्ञान के शरणापन्न हो।

ग्रन्थकर्त्ता अध्यापक पंडित रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी ने इस पुस्तक की रचना कर विज्ञान-जगत् का विशेष उपकार किया है क्योंकि बहुत लोग तो इस विषय को नीरस और दुर्बोध समझ कर छोड़ देते हैं और किसी ने यदि कुछ चेष्टा भी की तो उसकी लेखनशैली उतनी मनोरञ्जक और सरल नहीं होती। ऐसी दशा में ग्रन्थकर्त्ता को आशातीत सफलता हुई है। यह ग्रन्थ उनके परिपक्क तथा मार्ज्जित अनुभव और अध्यापकत्व का परिचय देता है। यों तो उन्हें सहस्रों संभ्रान्त विद्वानों से धन्यवाद-सूचक बधाई मिली होगी, पर हम भी कर्त्तव्य के अनुरोध से अपना धन्यवाद पंडित जी को देते हैं, यद्यपि इसका मूल्य कुछ नहीं है। आपने जो कृपा कर हिन्दी में अनुवाद करने की अनुमति दी है, इसके लिए हम तो आप के ऋणी हैं ही, पर हिन्दी भाषा भी बड़ी बाधित और कृतज्ञ है।

इस पुस्तक का अनुवाद करने में मित्रवर बाबू क्षितीशचन्द्र बनर्जी बी० ए० की अमूल्य सहायता के लिए उनको हार्दिक धन्यवाद है। माननीय गुरुदेव बाबू शिवनारायणसिंह ने कृपा-पूर्वक अपने अमूल्य समय को इसके संशोधन करने में नष्ट

किया है । इसके लिए मैं उनका चिरबाधित हूँ । आप की कृपा सदैव मुझ पर रहती है ।

यदि इस पुस्तक से जन-साधारण को कुछ भी लाभ हुआ और यह पुस्तक पाठकों को कुछ भी रुचिकर तथा मनोरञ्जक हुई तो अनुवादक अपना परिश्रम सफल समझेगा । इति ।

कृषि कालेज,
नागपुर
१८ । १ । १०

अनुवादक,
द्वारिकानाथ मैत्र

प्रकृति

सौर जगत् की उत्पत्ति

रात को जो चमकते हुए असंख्य तारे देख पड़ते हैं उनमें से प्रत्येक तारा एक सूर्य्य है। हम लोगों का सूर्य्य भी केवल एक छोटा सा तारा है। ऐसे बहुत से तारे हैं जो सूर्य्य से बहुत बड़े हैं। साधारण दृष्टि से हम लोगों को छः हज़ार से अधिक तारे नहीं दिखलाई पड़ते; परन्तु दूरबीन से देखने पर कई क़रोड़ तारे दिखाई देते हैं। दूरबीन से भी न दिखलाई पड़नेवाले न मालूम कितने तारे होंगे। उनकी संख्या कौन बतला सकता है?

यह ब्रह्माण्ड अतीव विशाल है। हम लोगों के सूर्य्य की परिधि पृथ्वी से १२ लाख गुणा है तथा पृथ्वी से सूर्य्य ६ करोड़ २० लाख मील की दूरी पर है। जितने तारों की दूरी निश्चित की गई है उनमें से सब से पासवाले तारे से पृथ्वी पर प्रकाश आने में सवा चार वर्ष लगते हैं और प्रकाश की चाल एक सेकेंड में एक लाख छ्यासी हज़ार मील है। इससे भी अधिक दूरी पर अवस्थित न मालूम कै करोड़ तारे हैं। विचारने की बात है कि ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है। दूरबीन से न दिखलाई पड़नेवाले

तथा बहुत दूर पर अवस्थित तारे से प्रकाश के आने में सैकड़ों वर्ष बीत जाते हैं और बीत सकते हैं।

इन असंख्य तारों में हम लोगों के तारे को अर्थात् सूर्य्य को घेर कर बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर, युरेनस और नेपच्यून—यह आठ ग्रह तथा बहुत से छोटे छोटे ग्रह अपने अपने निर्द्दिष्ट पथ पर भ्रमण कर रहे हैं। इनमें से जो बड़े बड़े ग्रह हैं उनकी भी कई उपग्रह परिक्रमा कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों धूमकेतु तथा उल्कापुंज सूर्य्य के चारों ओर घूमते रहते हैं। इन ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु तथा उल्कापुंजों से वेष्टित सूर्य्य से ब्रह्माण्ड का जो भाग अधिकृत है उतने हिस्से को सौर जगत् कहते हैं। सूर्य्य इनके बीच में है। ग्रहों में बृहस्पति सबसे बड़ा है तथा नेपच्यून सबसे दूर है। सूर्य्य से नेपच्यून की दूरी पृथ्वी की दूरी से तीस गुणा है।

माध्याकर्षण के नियमानुसार ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु इत्यादि निर्द्दिष्ट पथ पर भ्रमण कर रहे हैं। उनकी गति सर्व्वतोभाव से इस नियम के अधीन है। परन्तु सौर जगत् की बनावट में कुछ विचित्रता है जिससे माध्याकर्षण के नियम से कुछ सम्बन्ध नहीं है। यथा—

(१) ग्रह-गण आकाश में जहाँ तहाँ छितरे हुए नहीं हैं। उन सबका पथ प्रायः एक ही समतल पर है और सूर्य्य का निरक्षवृत्त भी उसी समतल पर है; केवल छोटे छोटे ग्रहों का पथ उस समतल से कुछ घट बढ़ कर है।

(२) सूर्य्य अपने अक्ष पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमता

है। अत्यन्त आश्चर्य्य का विषय है कि सम्पूर्ण ग्रह भी ठीक उसी प्रकार पर, पश्चिम से पूर्व, सूर्य्य की परिक्रमा कर रहे हैं।

(३) इसके अतिरिक्त ग्रह भी अपनी अपनी धुरी पर उसी प्रकार पश्चिम से पूर्व की ओर चक्कर लगा रहे हैं; परन्तु युरेनस और नेपच्यून ऐसा नहीं करते।

(४) ग्रहों के प्रकार पर उपग्रह भी उसी समतल पर अवस्थित हैं। उनकी भी गति पश्चिम से पूर्वाभिमुख है। केवल युरेनस के उपग्रह इस नियम के बहिर्भूत हैं।

(५) सूर्य्य से ग्रहों की दूरी याद रखने के लिए एक सहज उपाय यह है:—

०	३	६	१२	२४	४८	९६	१९२

हर एक में ४ जोड़ दो;

४	७	१०	१६	२८	५२	१००	१९६
बुध	शुक्र	पृथ्वी	मंगल	०	बृहस्पति	शनि	युरेनस

यदि सूर्य्य से बुध की दूरी चार मानी जाय तो ग्रहों की दूरी उपर्युक्त हिसाब से होगी। २८ अंक के नीचे किसी ग्रह का नाम लिखा नहीं है। केपलर साहब ने अनुमान किया था कि मंगल और बृहस्पति के बीच में कोई अनाविष्कृत ग्रह होगा। केपलर साहब के मरने के बहुत दिन पश्चात् जब युरेनस आविष्कृत हुआ तथा उसकी दूरी भी उपर्युक्त संकेत के अनुसार सिद्ध हुई तो उस समय के विज्ञानियों ने केपलर-अनुमित ग्रह को ढूँढ़ना आरम्भ किया। निदान २८ परिमित स्थान पर एक बड़े ग्रह के बदले बहुत से छोटे छोटे ग्रह पाये गये। बहुतों का मत

है कि वहाँ पर एक बड़ा ग्रह था और किसी प्रकार उसके चूर्ण हो जाने से इन छोटे छोटे ग्रहों की उत्पत्ति हुई है।

सौर जगत् की बनावट की इस विचित्रता की आलोचना करने से ज्ञात होता है कि इस ब्रह्माण्ड में ज्योतिर्गण का अवश्य कुछ सम्बन्ध होगा। इसमें सन्देह नहीं कि वह सम्बन्ध उनके जन्म-काल ही से है। वह सम्बन्ध क्या है? इस वैशिष्ट्य का कारण क्या है? ग्रह और उपग्रह जहाँ तहाँ छितरे हुए नहीं हैं, इच्छानुसार पथाभिगामी भी नहीं हैं, किन्तु एक नियमानुवर्ती हैं। इसका क्या कारण है?

सौर परिवार के ज्योतिर्गण की अवस्था की पर्य्यालोचना करने से एवं पदार्थविज्ञान के कई एक तत्त्वों की सहायता से इस प्रश्न का एक उत्तर यह हो सकता है—

पृथ्वी का भीतरी भाग बहुत गर्म है। पृथ्वी को खोद कर जितना ही नीचे जाते हैं उतना ही गर्मी अधिक मालूम होती है। इसके अतिरिक्त भूडोल, ज्वालामुखी, तथा ज़मीन के किसी विशेष भाग के क्रमशः ऊँचे होने का कारण—भूगर्भस्थ गर्मी ही है। जितने गर्म पदार्थ हैं उन सब से गर्मी निकलती है और कुछ समय में वे ठंडे हो जाते हैं तथा शीतल होने पर उनकी परिधि भी कम हो जाती है। अतएव बहुत समय पहले भूमंडल बहुत उत्तप्त अवस्था में था। वह गर्मी की अधिकता से तरल हो गया था। उसके भी पहले जब गर्मी और भी अधिक थी उस समय पृथ्वी निस्सन्देह वाष्पमय थी। यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि उस समय इसकी परिधि और भी अधिक थी।

सूर्य्य से भी निरन्तर गर्मी निकल रही है। कोयले की एक पृथ्वी गढ़ कर ३६ घंटा जलाने से जितनी गर्मी पैदा हो सकती है, सूर्य्य के प्रति वर्गफुट से हर घंटे में उतनी गर्मी निकल रही है। जितनी गर्मी सूर्य्य से निकल रही है उसका २२७०००००० वाँ हिस्सा गर्मी पृथ्वी पर पतित होती है। इसी गर्मी से पृथ्वी पर अनेकशः कार्य्य सम्पादन हो रहे हैं। विचारने का स्थल है कि सम्पूर्ण ताप का परिमाण कितना है!

सूर्य्य में यह गर्मी कहाँ से पैदा होती है? किसी किसी का मत है कि सूर्य्योपरि दहनादि क्रिया का प्रचण्ड वेग ही इसका कारण है। कोई कोई कहते हैं कि निरन्तर सूर्य्य पर उल्का-पिण्ड गिर रहे हैं, उन्हीं के आघात से इतनी गर्मी निकल रही है। हेल-महोलज्ज प्रभृति विज्ञानियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि रासाय-निक क्रिया वा उल्कापतन से इतनी गर्मी की उत्पत्ति होना बिल्कुल असम्भव है, केवल सूर्य्य के देहसंकोच से इतनी तापराशि की उत्पत्ति हो सकती है। जितना ही सूर्य्य का देह संकुचित हो रहा है उतना ही तापोद्गम हो रहा है। हेलमहोलज्ज के गणनानुसार सूर्य्य के व्यास का केवल ८५ मील भाग कम होने से जितनी गर्मी की उत्पत्ति होती है उतनी गर्मी सूर्य्य से २२६० वर्ष में निकलती है। इस विज्ञानी का अनुमान है कि सृष्टि के समय सूर्य्य सौर जगत् भर में था परन्तु क्रमशः संकुचित होकर उसने वर्त्तमान आकार धारण किया है और उसी संकोचन के गुण से अभी तक तापविकीर्ण कर रहा है और करता रहेगा। इसके अतिरिक्त इतनी तेजोराशि की उत्पत्ति का अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।

यही सब विचार कर सौर जगत् की उत्पत्ति का कारण निरूपित किया गया है।

सौर जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विख्यात फ़रासीसी गणितज्ञ लाप्लास का जो मत है वह नीचे लिखा जाता है। जर्मन दार्शनिक क्यान्ट भी इस मत के पक्षपाती हैं।

आदि में सूर्य्यमंडल सौर जगत् के सीमान्त तक सूक्ष्म वाष्प रूप में व्याप्त था। उस वाष्पराशि के भिन्न भिन्न अंश विभिन्न वेग से विभिन्न ओर प्रवाहित होते थे। काल-क्रम से उन विभिन्न गतियों के एक हो जाने से उस वाष्पराशि के भार-केन्द्र की चारों ओर, पश्चिम से पूर्व की ओर, एक महती आवर्त्तगति उत्पन्न हुई। तापविकीर्ण के साथ साथ माध्याकर्षण के नियमानुकूल वह विशाल पिण्ड संकुचित होने लगा। ज्यों ज्यों पिण्ड का आयतन कम होने लगा त्यों त्यों उसके आवर्त्तन की वृद्धि होने लगी। वेग-वृद्धि के साथ केन्द्रापसरण प्रवृत्ति की वृद्धि होने से उस द्रुत जड़ पिण्ड का निरक्ष देश वा पिण्ड फूल गया तथा मेरुप्रदेश सिकुड़ गया। क्रमशः संकुचित होने के कारण केन्द्रापसरण के बढ़ जाने से स्फीत निरक्ष देश मध्यवर्ती तरल पिण्ड से अलग हो गया तथा एक अँगूठी के आकार का हो गया। अब यह देखा जाता है कि भीतर एक पिण्ड अपने एक अक्ष पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रहा है एवं क्रमशः घनीभूत और संकुचित हो रहा है तथा एक विशाल चक्राकार अँगूठी, उसकी अनुवर्त्तिनी न हो, उसको वेष्टन कर उस ओर घूम रही है। कुछ काल में पिण्ड और भी संकुचित हो गया, और भी प्रवृद्धि की वृद्धि हुई

तथा एक और छोटी अँगूठी उत्पन्न हुई। इस प्रकार अभी तक नौ अँगूठियाँ और भी उत्पन्न हुई हैं तथा मध्यस्थ तरल पिण्ड घनीभूत और शीर्णकाय हो अभी तक प्रबल वेग से अपने अक्ष पर आवर्त्तन कर रहा है एवं अभी तक संकोचन गुण से गर्मी उत्पन्न कर चारों ओर विकीर्ण कर रहा है।

यही एक एक अँगूठी एक एक ग्रह की सृष्टि का मूल कारण है। वह अँगूठी सर्वदा समभाव से नहीं रह सकती। विभिन्न अंश में विभिन्न परिमाण से, आर्द्रता के रहने से, तथा भिन्न भिन्न बल के अधीन होने से, उसके छोटे बड़े टुकड़े हो जाते हैं तथा वे टुकड़े विभिन्न वेग से एक ही पथ पर भ्रमण करते हैं। इसके पश्चात् कुछ समयोपरान्त यही खंड परस्पर आकर्षित होने से मिल कर एक पिण्ड हो जाते हैं। पहले जो अँगूठी थी वही अब एक गोलाकार होकर उस विशाल आदि-पिण्ड के चारों ओर भ्रमण करने लगता है। यही क्षुद्र गोलाकार एक एक ग्रह हैं।

पुनः उस बृहत् पिण्ड ने जिस कारण से घनीभूत होकर अपने शरीर से ग्रह को उत्पन्न किया था, उसी कारण से क्षुद्र पिण्ड अर्थात् वह ग्रह शीतल और घनीभूत होकर एक अँगूठी भी उत्पन्न करता है और वह अँगूठी पिण्डत्व को प्राप्त होकर एक छोटा उपग्रह हो जाती है। इसी प्रकार पृथ्वी से एक, और मंगलादि ग्रहों से एक से अधिक चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है। पृथ्वी तारल्य अवस्था से काठिन्य अवस्था में परिणत हो गई है। अब इसके अँगूठी पैदा करने की सम्भावना नहीं। तथापि आवर्त्तन-जात केन्द्रापसरण के होने से भूमण्डल का निरक्ष देश अभी तक

स्फीत है। इसी से उत्तर और दक्षिण मेरुप्रदेश "कुछ चपटा" हो गया है। शनैश्चर ग्रह में अँगूठी अभी तक है और अभी तक सर्वदा उसमें परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं।

वैज्ञानिक लोग केवल युक्तियों ही पर नहीं विश्वास करते, बरन गणित के सिद्धान्त को भी परीक्षा करके अपनी आँखों देखते हैं। फ़रासीसी विज्ञानी प्लेटो ने तेल का तरल पिण्ड निर्माण करके उसको कौशलक्रम से घुमा कर उससे तेल के सूर्य्य और तेल के ग्रह को उत्पन्न किया था। विशाल सैार जगत् की नक़ल कर उन्होंने एक तैल-जगत्, परीक्षास्वरूप, निर्माण किया था।

कई एक घटनायें इस तत्त्व के विरुद्ध हैं। बहुतों ने उसकी यथाशक्ति मीमांसा भी की है; परन्तु सर्वत्र सुसंगत यथेष्ट मीमांसा नहीं हुई है।

संपूर्ण ग्रह पश्चिम से पूर्व ही की ओर घूमते हैं और प्रायः सबका अपनी धुरी पर भी घूमना पश्चिम से पूर्व ही की ओर है। प्रायः इसलिए कहा गया कि युरेनस और नेपच्यून के विषय में अभी सन्देह है। उनके चक्कर को देखना कुछ सहल बात नहीं है। और और ग्रहों का निरक्षवृत्त उनके भ्रमण-पथ से अधिक हट कर नहीं है। भ्रमणपथ और निरक्षवृत्त के अन्तर्गत पृथ्वी का कोण २३॥ अंश मात्र है। मङ्गल का २५ अंश, शनैश्चर का २७ अंश और बृहस्पति का ३ अंशमात्र है; परन्तु युरेनस का प्रायः ६० अंश है। ग्रह के चारों ओर जो उपग्रह हैं वे भी पश्चिम से पूर्व की ओर भ्रमण करते हैं। युरेनस के उपग्रह विपरीत पथ

पर अर्थात् पूर्व से पश्चिम की ओर भ्रमण करते हैं। यह सब देख कर ज्ञात होता है कि युरेनस और सम्भवतः नेपच्यून की उत्पत्ति के समय ऐसी कोई बात हो गई थी जो दूसरे ग्रहों की उत्पत्ति के समय नहीं थी।

सूर्य्य से जो ग्रह जितनी ही अधिक दूरी पर है वह उतना ही अधिक बड़ा है। बुध, शुक्र, पृथ्वी और मङ्गल की अपेक्षा बृहस्पति, शनैश्चर, युरेनस और नेपच्यून अधिक बड़े हैं। यही सम्भव भी है, क्योंकि बुधादि ग्रह छोटी छोटी अँगूठियों से और बृहस्पति इत्यादि ग्रह बड़ी बड़ी अँगूठियों से उत्पन्न हुए हैं। स्थूलतः यह नियम ठीक है। किन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जावे तो बृहस्पति की अपेक्षा शनैश्चर, युरेनस और नेपच्यून को बड़ा होना चाहिए।

बृहस्पति और मङ्गल के बीच एक बड़े ग्रह के बदले बहुत से छोटे छोटे ग्रह दिखाई देते हैं। मानों अँगूठी के सैकड़ों टुकड़ों से इन ग्रहों की उत्पत्ति हुई हो और किसी कारणवशात् यह टुकड़े एकत्रित नहीं हो सके। यह नहीं कहा जा सकता कि महाकाय बृहस्पति का निकट होना इसका कारण है या नहीं, तौल में बृहस्पति ३०० पृथ्वियों के बराबर है। एक बड़े ग्रह के चूर्ण हो जाने से बहुग्रहों की उत्पत्ति होने के विषय में गणितज्ञ-गण सन्देह करते हैं। ख़ैर जो हो, उन ग्रहों में सबसे बड़े का व्यास प्रायः ३०६ मील मात्र है, बहुत से उनमें ऐसे भी हैं जिनका व्यास २० मील से भी कम है।

बड़े ग्रहों के उपग्रह छोटे ग्रहों की अपेक्षा अधिक होने

चाहिए। मङ्गल ग्रह के उपग्रह दो हैं। तीन भी हो सकते हैं। बुध और शुक्र उपग्रह-हीन ग्रह हैं। पृथ्वी का केवल एक उपग्रह है। बृहस्पति इत्यादि महाकाय ग्रहों की उपग्रह-संख्या अधिक है।

सम्प्रति पदार्थविज्ञान की उन्नति होने से सौर जगत् की इस उत्पत्ति के विषय में बहुत से नये प्रमाण आविष्कृत हुए हैं।

आरम्भ में पृथ्वी और सूर्य्य एक था। यदि यह बात सत्य है तो पृथ्वी और सूर्य्य एकही पदार्थ से निर्मित होने चाहिए। अभी तक इस प्रश्न का उत्तर कल्पना में भी अगोचर था; परन्तु अब सूर्य्य के प्रकाश का विश्लेषण करने से यह सिद्ध हुआ है कि सूर्य्यमंडल पर भी लोहा, ताँबा, सोडियम, उद्जन प्रभृति पार्थिव द्रव्य प्रचुर परिमाण से विद्यमान हैं।

छोटे ग्रहों को सबसे पहले ठंडा होना तथा कठिन होना चाहिए। बड़े ग्रहों को ठंडा होने में देर लगती है। ग्रहगणों की प्रकृत अवस्था को देखने से ऐसा ही ज्ञात होता है। चन्द्र सबसे छोटा है। यह सम्पूर्णतः कठिन हो गया है। चन्द्र में जल और वायु किञ्चित् परिमाण से भी वर्त्तमान नहीं है। यदि कुछ हो भी तो वह काठिन्य अवस्था में है। इसके प्रकाण्ड आग्नेय गिरि, बहुत दिन व्यतीत हुए, आग उगलना छोड़ निर्जीव हो गये हैं अतएव इनका भीतरी भाग भी शीतल है और पृथ्वी चन्द्रमा से २५ गुणा बड़ी है। इसका भीतरी भाग अभी तक अग्निमय है। पृष्ठ भाग शीतल है सही, परन्तु पृथ्वी का कुछ भाग वाष्पीय तथा कुछ भाग (महासागर) तरल अवस्था में है। अभी पृथ्वी के जीवन-शेष होने के लिए बहुत दिन बाक़ी हैं। शुक्र और मंगल

उम्र में तथा आकार में पृथ्वी के सदृश ही हैं! अतएव इनकी प्राकृतिक अवस्था भी पृथ्वी की तरह है। मंगल वायुराशि द्वारा वेष्टित है। इसका ऊपरी हिस्सा महादेश तथा महासागर में विभक्त है। इसका मेरुप्रदेश तुषार द्वारा समाच्छन्न है। गर्मी के दिनों में तुषार गल जाता है और सर्दी में फिर पूर्व्वावस्था को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार शनैश्चर और बृहस्पति का आकार बहुत बड़ा है उसी प्रकार इनकी अवस्था भी है। ज्ञात होता है कि इन्होंने सम्पूर्णतः तरलता को नहीं छोड़ा है। आगे पृथ्वी से इन सबकी सान्द्रता की तुलना की जाती है :—

ग्रह		सान्द्रता	
बुध	क्षुद्र ग्रह	·७२	प्रायः समान
शुक्र		·८६	
पृथ्वी		१·००	
मंगल		·७२	
बृहस्पति	बड़े ग्रह	·२४	बहुत कम
शनैश्चर		·१३	
युरेनस		·२३	
नेपच्यून		·२१	

बृहस्पति आकार में सबसे बड़ा है, अतएव इसकी अवस्था अनेकांश में सूर्य्य के प्रकार पर है। ढेर के ढेर वाष्पीय पदार्थों ने बड़े भारी बादल की भाँति इसके विशाल शरीर को ढक

रक्खा है तथा वे महावेग से इधर उधर भ्रमण कर रहे हैं। विकट आँधी की तरह प्रचण्ड वेगशाली वाष्पराशि बृहस्पति के पृष्ठभाग पर निरन्तर आन्दोलित हो रही है। शनैश्चर की दशा भी बृहस्पति के जैसी ही है।

सौर जगत् के विषय में जो कुछ कहा गया है वह दूसरे तारों के पक्ष में भी कहा जा सकता है। ज्ञात होता है कि प्रत्येक तारा एक एक जगत् के केन्द्र-स्थल स्वरूप है और सब की उत्पत्ति भी इसी प्रकार से हुई होगी। केवल इतना अन्तर हो सकता है कि कोई तो अति प्राचीन है, और कोई आधुनिक; कोई शीतल होकर निर्वाण को प्राप्त हुआ ही चाहता है और कोई अभी तक नई नई अँगूठियाँ पैदा कर रहा है। प्रकाश के विश्लेषण करने पर ज्ञात हुआ है कि सब तारे एक ही पदार्थ के बने हैं। विज्ञानियों ने तारों के वर्ण से नक्षत्रों की उम्र दरियाफ़ की है। कोई कोई नक्षत्र युग पर्य्यन्त प्रकाशित हो आख़िरकार पृथ्वी की तरह निष्प्रभ तथा निर्व्वापित हो गये हैं।

यदि यही सत्य है तो आकाश में ऐसे तारे भी हैं जो अभी जीवनोन्मुख और वाष्पमय हैं तथा जिन्होंने आकाश के एक प्रकाण्ड भाग को अधिकृत कर रक्खा है और जिनके शरीर से भविष्य में ग्रह-उपग्रह-शोभित विचित्र जगत् की उत्पत्ति होगी।

अठारहवीं शताब्दी में इस प्रकार के तत्व का आविष्कार हुआ था। दूरबीन के सहारे आकाश में जो कुछ कुहरा सा देख पड़ता है, सर विलियम हर्शेल के मतानुसार, वह वाष्पमय आदिम जगत् था। सर जान हर्शेल ने दूरबीन से देखा था कि

वे सब वाष्पमय नहीं हैं। बहुत दूर होने से तथा पास पास होने से वे इस प्रकार दिखलाई देते हैं। उसी समय से कोई कोई ज्योतिषी लाप्लास के सौर जगत् की उत्पत्ति के विषय के मत पर विश्वास नहीं करते थे; परन्तु प्रकाश का विश्लेषण करने से यह सिद्ध हो गया है कि वे वाष्पमय हैं।

धूमकेतु क्या हैं? धूमकेतु भी माध्याकर्षण के कारण सूर्य्य के चारों ओर भ्रमण करते हैं। इनके आकार नाना प्रकार के होते हैं। इनका आयतन बहुत बड़ा होता है। सन् १८६१ ई० के धूमकेतु की पूँछ दो करोड़ मील लम्बी थी। सन् १८४३ ई० के धूमकेतु की पूँछ ११ करोड़ मील लम्बी थी परन्तु मस्तक समेत इनका वज़न बहुत कम होता है; तथा यह सामान्य कारणवशात् कक्षाच्युत हो जाते हैं। प्रकाश का विश्लेष करने से यह ज्ञात होता है कि यह वाष्पमय हैं। बहुतों का अनुमान है कि यह सौर जगत् में उपादानभूत वाष्पराशि के अवशेष हैं। आदि-जगत् की वाष्प के दो-एक टुकड़े किसी प्रकार से अलग हो संकोचनशील मध्यस्थ पिण्ड का अनुसरण नहीं कर सके; वे ही सब धूमकेतु के रूप में वर्तमान हैं। वास्तव में अधिकांश धूमकेतु सौर जगत् के मेरु देश से आते हैं। जिस तल पर ग्रह भ्रमण करते हैं उस पर धूमकेतु का पथ प्रायः लम्बभाव से है।

अगणित उल्कापुंज धूमकेतु की तरह एक निर्दिष्ट पथ पर भ्रमण करते हैं। एक बार नवम्बर महीने में पृथ्वी के एक उल्कापुंज के निकट आ जाने के कारण उल्कावृष्टि हुई थी। उल्का की संख्या सुनने से विस्मित होना पड़ता है। दूरबीन से

रोज़ रात को ४० करोड़ उल्कापिण्ड देखे जा सकते हैं। यह सब पार्थिव पदार्थों द्वारा बने हुए हैं। ज्ञात होता है कि धूमकेतु और उल्कापुंज में बहुत अन्तर नहीं है। वास्तव में कोई कोई धूमकेतु उल्कापुंज के समूह मात्र हैं।

किसी किसी दूरबीन से आकाश में दो करोड़ तक तारे दिखलाई पड़ते हैं। उनमें से एक करोड़ अस्सी लाख छाया-पथ के अन्तर्गत हैं, बाक़ी बीस लाख इसके बाहर हैं। यह देखा जाता है कि जिस प्रकार सौर जगत् के प्रायः सब ग्रह एक तल पर हैं और उनमें से दो-एक तल से कुछ हट कर हैं उसी प्रकार तारका-जगत् में प्रायः सब तारे एक ही तल पर अर्थात् छाया-पथ में हैं। तारा-जगत् और सौर जगत् की बनावट बहुत कुछ मिलती जुलती है।

जिस प्रकार प्रायः सम्पूर्ण धूमकेतु सौर जगत् के मेरुप्रदेश के पास से आते हैं उसी प्रकार दूरबीन से देख पड़नेवाले कुहरे भी तारका-जगत् के मेरुप्रदेश से अर्थात् छायापथ से दूर दिखलाई पड़ते हैं। अनुमान किया जाता है कि कई करोड़ सौर जगत् के समष्टिस्वरूप विशाल प्रमाण नक्षत्र-जगत् के निर्म्माण से बची हुई वाष्पराशि आज भी कुहरे की अवस्था में है। ज्ञात होता है कि इस कुहरे से आज पर्य्यन्त नये नये सूर्य्य निर्म्मित होते होंगे।

आकाश-तरङ्ग

आकाश-तरङ्ग-घटित कई एक नये आविष्कार इस प्रबन्ध में लिखे जावेंगे। बीस वर्ष व्यतीत हुए होंगे कि महामति क्लार्क मैक्सवेल ने ज्ञानचक्षु द्वारा जड़जगत् के इस अद्भुत रहस्य को देखा था। दस वर्ष (सन् १८०३) हुए, जर्म्मनी के हार्ट्ज़ साहब ने यह व्यापार हम लोगों को चर्मचक्षु-गोचर करा दिया है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में जागतिक क्रिया-प्रणाली के बहुत से तत्व आविष्कृत हुए हैं तथापि इतने भारी तत्व का आविष्कार नहीं हुआ। खेद है कि अब मैक्सवेल साहब विद्यमान नहीं हैं।

प्रकाश के धर्म्म को समझने के लिए ईथर नामक विश्वव्यापी पदार्थ की अस्तित्व कल्पना की गई है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने "आकाश" नामक एक सूक्ष्म पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना की थी। उन लोगों के मत में वह पदार्थ भी विश्वव्यापी था। अतएव ईथर शब्द के बदले आकाश व्यवहार किया जा सकता है। पर भेद इतना ही है कि उस समय का आकाश एक काल्पनिक वस्तु है और आधुनिक आकाश के विषय में वैसा कुछ सन्देह नहीं है। कुछ नहीं तो दिखलाई पड़नेवाले घर, हाथी, घोड़े का जिस अर्थ में अस्तित्व है उसी अर्थ में आकाश का, उसके प्रत्यक्ष-गोचर न होने पर भी, अस्तित्व है—नास्ति नहीं

कह सकते। आकाश के सम्पूर्ण धर्म्म अभी हम लोगों को ज्ञात नहीं हैं। और, हमें सभी पदार्थों के पूर्ण गुण मालूम ही कहाँ हैं।

इस पदार्थ का एक गुण यह है कि कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ पर यह न हो। शून्य स्थान में तो है ही, इसके अतिरिक्त जल, वायु, सोना, चाँदी, मिट्टी आदि पदार्थों में "ओतप्रोत" भाव से भरा हुआ है। दूसरा गुण यह है कि इसके किसी अंश को किसी प्रकार हिला देने से चारों ओर लहरें उठने लगती हैं और वे दिगन्त में फैल जाती हैं। जिस प्रकार पानी को हिला देने से जलाशय के पृष्ठ भाग पर लहरें उठने लगती हैं, वीणायन्त्र की तन्त्री को छू देने से जिस प्रकार वायु में लहरें उठने लगती हैं, उसी प्रकार आकाश को किसी प्रकार हिला देने से लहर के बाद लहर उठकर बहुत दूर तक फैल जाती है। उसके वेग को सुनिए। यहाँ लहर उठने से एक सेकंड में प्रायः लाख कोस पर जाकर उसका धक्का लगेगा। सूर्य्यमण्डल पृथ्वी से बड़ी दूर (४॥ करोड़ कोस) है पर तो भी वहाँ पर लहर उठने से आठ मिनिट के बाद उसका धक्का हम लोगों की आँखों में लगता है। आँख में उसका धक्का लगने से मस्तिष्क को हिला देता है और इसी से हम लोगों को मालूम हो जाता है कि वहाँ पर कौन सी वस्तु है और उस वस्तु का नाम सूर्य्य रखते हैं। ईथर या आकाश के होने ही से हम लोगों को, इतनी बड़ी भारी वस्तु, सूर्य्य के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

आकाशसागर में इन लहरों का वेग बहुत प्रबल है। परन्तु इनका आकार बहुत छोटा है। समुद्र में आँधी आने से सौ हाथ

से भी लम्बी लहरें उठती हैं, तालाब के पानी को हिला देने से हाथ दो हाथ की लम्बी लहरें उठती हैं, और गंभीर जल में मृदु वायु के हिल्लोल से एक इंच तथा इससे भी छोटी लहरें उठ सकती हैं। परन्तु आकाश की जिन तरङ्गों से हम लोगों को दिखलाई पड़ता है वे इतनी छोटी हैं कि पानी की लहरों से उनकी तुलना ही नहीं हो सकती। उनकी लम्बाई मापने के लिए इंच से काम नहीं चलता। इंच के करोड़ हिस्से करने पड़ते हैं। इन आलोकजनक लहरों की लम्बाई कितनी है यह स्थिर हो चुका है। जिस प्रकार गज़ से कपड़ा मापने पर ग़लती होने की कम सम्भावना है इसी प्रकार इस माप में भी अधिक भूल नहीं है, किन्तु यह उससे भी उत्तम है। ऊपर कहा जा चुका है कि लहरें इतनी छोटी हैं कि इंच से काम नहीं चलता। उसके मापने के लिए इंच के करोड़ हिस्से करने पड़ते हैं। इनमें जो लहरें कुछ लम्बी हैं उनसे लाल प्रकाश होता है। उससे कुछ और लम्बा होने से हम लोगों को देख नहीं पड़ता। मध्यम लहरों में किसी का तो पीला, किसी का हरा तथा किसी का नीला प्रकाश होता है। और छोटा होने से हम लोगों को बैंजनी रङ्ग देख पड़ता है। उससे और छोटा होने से नहीं दिखलाई पड़ता।

आँख में आकाश की लहरों की टक्कर लगने से मस्तिष्क के हिल जाने पर हम लोगों को प्रकाश का अनुभव होता है और वे लहरें अतीव सूक्ष्म हैं,—यह सब आलोकविज्ञान की पुरानी बातें हैं। पाठकों के लिए ये नई बातें नहीं हैं। परन्तु आकाश में दस-पाँच हाथ लम्बी लहरें क्या, दश-पाँच कोस की भी लम्बी लहरें

उठ सकती हैं, इसके विषय में किसी को तिलमात्र भी ज्ञान नहीं था। ऐसी लहरें आकाश में निरन्तर उठ रही हैं, यह किसी व्यक्ति को अभी तक नहीं ज्ञात था। मैक्सवेल साहब ने सबसे पहले इसकी सम्भावना को सिद्ध किया था। परन्तु वे इसको इन्द्रिय-गोचर नहीं करा सके। सम्प्रति हार्ट्‌ज़ तथा उनके अनुयायियों के परिश्रम से स्कूल के लड़के भी प्रकृति के इस रहस्यमय व्यापार को देख कर विस्मित हो रहे हैं। कुछ दिन बाद ऐसा होगा कि इस लावारिस शक्तिसमष्टि का हम लोग सांसारिक कार्यों में उपयोग करेंगे तथा इसके स्वत्व के लिए झगड़ा करेंगे।

बात यों है कि वैद्युत् शक्ति और चौम्बक शक्ति के सहारे हम लोग बड़े बड़े कार्य्य सम्पादन कर रहे हैं। ये दो शक्तियाँ प्रकाश की तरह आकाश की क्रिया-विशेष मात्र हैं। वैद्युत् शक्ति का नाम लेने से पाठकों के मन में काँच, लाह, ताँबा, रेशम, ऊन तथा उनकी आनुषंगिक दुर्ब्बोध्य जटिल-यन्त्र-परम्परा का उदय होता है। आपसे आप यह बात मन में आ जाती है कि यह सहज बात नहीं है। कुछ जादू का खेल है। परन्तु इतने डर की कोई आवश्यकता नहीं। बिजली की उत्पत्ति हम लोग सर्वदा देखते हैं। इसके लिए किसी विकट यन्त्र तथा तन्त्रमन्त्र की आवश्यकता नहीं है। जितनी बेर रबर की कंघी से हम बाल साफ़ करते हैं उतनी बेर कंघी में विद्युद्भाव का विकाश होता है। बाल साफ़ करके यदि हम कंघी को एक काग़ज़ के टुकड़े के पास ले जाते हैं तो काग़ज़ आपसे आप कंघी में लग जाता है। किसी बिल्ली को थपथपाने से हाथ फ़ौरन ही विद्युद्धर्म्मयुक्त

हो जाता है। काँच और रेशम की बात जाने दीजिए, किन्हीं दो पदार्थों के घिसने से दोनों से बिजली निकलने लगती है; पर किसी से ज़्यादा और किसी से कम बिजली निकलती है। इसी से विद्युत् के विकाश को जानी हुई बात कहनी पड़ती है। हम लोगों के उठने-बैठने में, कपड़े पहिनने में, और चलने-फिरने में तड़ित् का संचार हो रहा है, इसकी हम लोगों को कुछ ख़बर नहीं है। और चुम्बकशक्ति का नाम लेने से कुतुबनुमे की सुई, डाक्टरों की बैटरी तथा बड़े बड़े डाइनमों की याद आती है। परन्तु यथार्थ में क्या छोटे क्या बड़े सभी पदार्थों में चुम्बक है। यह और बात है कि किसी में अधिक है और किसी में कम।

यह विद्युत् और चुम्बकशक्ति क्या है? अभी तक यह सम्पूर्णतः निश्चित नहीं था। मैक्सवेल साहब ने इसको स्थिर किया था। ईथर या आकाश स्थितिस्थापक पदार्थ है। इस्पात का स्प्रिंग तथा रबर का धागा जैसा होता है इसका भी वैसा ही हाल है। खींचने में कुछ ताक़त लगानी पड़ती है, छोड़ देने पर पहले का सा हो जाता है। परन्तु पहले का सा फ़ौरन नहीं हो जाता, स्प्रिंग को खींच कर छोड़ देने से कुछ समय तक वह हिलता है तथा हिलते हुए कुछ देर बाद थम जाता है। बहुत सी ऐसी चीज़ें हैं जो स्थितिस्थापक नहीं हैं। जैसे गीली मिट्टी, गीला लाह तथा मोम। ये चीज़ें खींचने पर बढ़ जावेंगी तथा टेढ़ी हो जावेंगी, छोड़ने पर मिलेंगी भी नहीं और न पूर्व अवस्था ही को प्राप्त होंगी। आकाश कुछ अंशों में स्प्रिंग के सदृश है। इसके किसी अंश को हिला देने से वह हिलने

लगता है और झूलने की वजह ही से आकाश में तरंगें उठती हैं। वह स्पंदन-आन्दोलन क्रमशः संक्रामित तथा संचलित हो लहरें उत्पन्न करता है। एक अर्थ में जल और वायु स्थितिस्थापक हैं। इसी से इनके एक अंश के आन्दोलन से सब जगह आन्दोलन होने लगता है, जैसे पानी में जल-तरंग तथा वायु में शब्द-तरंगें उठती हैं। स्थितिस्थापक ईथर में जब धक्का लगता है तब वैद्युत्-शक्ति का विकाश होता है। रबर के धागे को दोनों हाथों से खींचने पर उसकी जैसी अवस्था होती है वैसी ही अवस्था काँच पर रेशम घिस कर काँच हटा लेने से तथा कंघी से बाल झाड़ कर कंघी हटा लेने से, दोनों द्रव्यों में होती है अर्थात् काँच और रेशम में तथा बाल और कंघी में जो ईथर रहता है उसकी भी पूर्वोक्त दशा होती है। जिस द्रव्य में वैद्युत् भाव का विकाश देख पड़ता है उसकी चारों ओर के आकाश में खिँचाव होता है। रबर के धागों को दो हाथों से खींचने पर जिस प्रकार उलटा खिँचाव होता है, एक हाथ दूसरे हाथ की ओर जाना चाहता है, उसी प्रकार बीच के ईथर में खिँचाव होने से काग़ज़ के टुकड़े कंघी की ओर या काँच की ओर जाना चाहते हैं।

यहाँ तक वैद्युत् शक्ति का वर्णन हुआ। अब उसकी आकर्षण शक्ति का वर्णन करते हैं। दो चीज़ों को परस्पर घिस कर जितना हटाओगे उनके बीच बीच के आकाश में भी उसके साथ ही साथ खिँचाव होगा। दोनों चीज़ों को यदि एकाएक मिला देवें (एक से दूसरे को मिला देने से अथवा एक ताँबे के तार से दोनों को मिला देने से भी हो सकता है) तो ईथर का खिँचाव जाता

रहेगा। स्प्रिंग या रबर को खींच कर एकाएक छोड़ने से वह कई एक बेर झूल कर स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त होता है, उसी प्रकार बीच का ईथर भी कई बार हिल कर स्वाभाविक रूप धारण करेगा। इसी को अँगरेज़ी में डिस्चार्ज कहते हैं। जिस प्रकार स्प्रिंग और रबर की खैंच हम लोगों के हाथ के ज़ोर की अपेक्षा अधिक होने से अपने दोनों छोरों को हाथ से अलग कर लेती है, उसी प्रकार तड़ित्-शक्ति का खिँचाव अधिक होने से बीच के बाधाविघ्न को नष्ट कर ईथर के दोनों छोरों को एक करने की चेष्टा करता है और इस प्रकार स्वाभाविक रूप धारण करता है। अधिक खिँचाव से स्प्रिंग और रबर जिस प्रकार टूट जाता है उसी प्रकार आकाश भी टूट जाता है। बीच में वायु रहने से वह जल उठता है, काँच रहने से टूट जाता है तथा मनुष्य के होने से उसके शरीर में आघात लगता है। वज्रपात के पहले मेघ और भूपृष्ठ के बीच के आकाश में इस प्रकार खिँचाव होता है। खिँचाव अधिक होने से संपूर्ण ईथर काँपने लगता है तथा कोई अभागा जीव बीच में आ जाने से उसका शरीर टुकड़े टुकड़े हो जाता है।

जिस प्रकार हम लोगों के चलने फिरने से बिजली निकलती है उसी प्रकार यह डिस्चार्ज भी हम लोगों के अगोचर हो रहा है। प्रति डिस्चार्ज से थोड़ा सा ईथर स्प्रिंग की तरह हिलने लगता है और कुछ देर हिलने ही से वह आन्दोलन चारों ओर आकाशसागर में व्याप्त हो जाता है, अतएव प्रति डिस्चार्ज के होने से आकाश में लहरें उठ रही हैं। ये लहरें बहुत छोटी नहीं हैं। जड़ पदार्थ के क्षुद्रातिक्षुद्र अणु के हिलने से और ईथर में

धक्का लगने से जो छोटी छोटी लहरें उठ कर प्रकाश उत्पन्न करती हैं उन लहरों से इन तड़ित् डिस्चार्ज की लहरों के साथ तुलना नहीं हो सकती। इनके नापने से ज्ञात होता है कि प्रकाश उत्पन्न करनेवाली तरंगें यदि एक इंच के करोड़वें हिस्से के बराबर हैं तो यह तरंगें उतनी मील की होती हैं।

बात यह है कि आकाश में छोटी बड़ी, बहुत छोटी से बहुत बड़ी—लहरें सर्वदा उठ रही हैं। आकाश में किसी प्रकार का खिँचाव होने से ये लहरें उठ कर चारों ओर फैल जाती हैं। जो छोटी लहरें उठती हैं उनमें से कुछ, सब नहीं, हम लोगों के दर्शनेन्द्रियरूप सुकौशल यत्न के सहारे मस्तिष्क में धक्का दे कर दूरस्थ पदार्थ को बतलाती हैं। और दूसरी छोटी बड़ी लहरों का अस्तित्व हम लोगों को उपयुक्त इन्द्रिय या यन्त्र के न होने से अनुभव नहीं होता चाहे वे कितने ही इंच या मील की क्यों न हों। वास्तव में अभी उनका हम लोगों को कुछ भी ज्ञान नहीं था।

पहले पहल मैक्सवेल साहब ने आविष्कार किया कि ईथर में लहर उठने से प्रकाश होता है और उसमें किसी प्रकार का खिँचाव पड़ने से बिजली पैदा होती है। उस ईथर में किसी प्रकार आवर्त्त के होने से चुम्बक पैदा होता है। और जब ईथर स्प्रिंग की तरह है तब उस तड़ित्भाव के लोप होने के समय अर्थात् डिस्चार्ज के समय बड़ी बड़ी लहरों का उठना सम्भव है। जर्म्मन अध्यापक हार्ट्ज़ ने कौशलक्रम से उन सब लहरों के अस्तित्व को सर्वसाधारण के गोचर कर प्रकाश तथा तड़ित् के सम्बन्ध को सिद्ध कर दिखाया है। एक फ़ुट लम्बी तथा

एक इंच चौड़ी पीतल की डंडी को तड़ित्‌युक्त कर डिस्चार्ज करने से चारों ओर ईथर में प्रायः एक हाथ लम्बी लहर उठती है। काँच की बोतल को भीतर बाहर राँगे से मोड़ कर जो बिजली संचय करने का यन्त्र बनाया जाता है और जिसको अँगरेज़ी में "लीडनजार" कहते हैं उसको डिस्चार्ज करने से और भी बड़ी बड़ी लहरें उठती हैं। जिस प्रकार प्रकाश-रेखा की रश्मि चिकने पदार्थ पर पड़ने से प्रतिफलित होती है तथा स्वच्छ पदार्थ पर पड़ने से विवर्त्तित होती है, हार्ट्‌ज़ ने कुशलता-पूर्वक दिखला दिया है कि इन नवाविष्कृत दीर्घ लहरों की रश्मि भी उसी प्रकार प्रतिफलित तथा विवर्त्तित होती है। प्रकाश की तरह तड़ित्-रश्मि भी आकाश में प्रति सेकंड लाख कोस के हिसाब से हो जाती है। सारांश यह है कि प्रकाश की रश्मि में जो गुण हैं वह सब गुण इसमें भी वर्तमान हैं*।

---

*स्मरण रखना चाहिए कि यह निबन्ध कई वर्ष पहले लिखा गया था। अब यह पुराना इतिहास है।

पृथ्वी की आयु

जननी वसुन्धरा की आयु निर्धारित करने के लिए केवल अनुमान ही पर निर्भर रहना पड़ता है। क्योंकि जननी के जन्म ग्रहण करने के समय उनके पुत्र-कन्या किसी की भी सम्भावना नहीं थी। इसलिए पृथ्वी-माता के जन्म-समय को बतलाने वाली कुण्डली (जन्मपत्र) का अभाव है। तथापि जन्मकाल निर्धारित करना असंभव है ऐसा मान कर अपनी अक्षमता प्रकाशित करने में लज्जित होना पड़ता है। चमड़े की सिकुड़न (झुर्रियाँ), पके हुए बालों की अधिकता तथा गिरने से बचे हुए दाँतों को देखकर बहुधा आयु मालूम की जाती है। अतएव इस प्रचलित साधारण नियम का अवलम्बन कर प्राचीना जननी की आयु निर्धारित करने में कुछ वाचालता नहीं हो सकती।

पर ऐसे भी लोग हैं जो केवल हाथ की तथा ललाट की रेखा को देख कर नष्ट-कुण्डली बना सकते हैं तथा जन्मकाल और राशि नक्षत्र को बता सकते हैं। ज्ञात होता है कि इसी प्रकृति के अनुसार पृथ्वी की अवस्था ६ हज़ार वर्ष की होने की सम्भावना की गई थी। हम लोग इन नष्टकुण्डली-कर्त्ताओं की क्षमता की प्रशंसा करते हैं सही, परन्तु इनकी विचारप्रणाली का माहात्म्य

हम लोगों की समझ में नहीं आता। अतएव अपनी गणना की सत्यता के विषय में विचार करने का हम लोगों को अधिकार नहीं है तथा हम लोगों की प्रवृत्ति भी उस ओर नहीं है।

प्रथमोक्त अनुमान नामक विचार-प्रणाली का अवलम्बन कर जो कुछ निर्धारित हुआ है, लाचार हो, उसी का उल्लेख कर हम लोगों को संतुष्ट होना पड़ता है।

दुःख का विषय है कि जो इस प्रथा के अनुयायी हैं उनमें भी बड़ी भारी फूट दृष्टिगोचर होती है। ये लोग दो दल के हैं। एक दल कहता है कि माता की आयु की गणना नहीं हो सकती; और दूसरा दल कहता है कि माता का जन्मग्रहण तो कल की बात है। प्रथम दल चर्म की लोलता तथा टूटे हुए दाँतों को देखकर विचार करता है। द्वितीय दल कहता है कि अभी उस दिन जननी के जन्म के लिए सूतिकागृह बनाया जाता था। सूतिकागृह की दीवाल पर तारीख़ लिखी हुई है।

अनुमान को यदि युक्ति कहा जा सकता है तो उभय सम्प्रदायों की प्रयुक्त युक्तियाँ कुछ अंशों में इस प्रकार हो सकती हैं—

पहला सम्प्रदाय भूविद्या तथा प्राणिविद्या का अनुयायी है। हम लोगों की गोलाकार जननी के देह के भीतर अस्थि-कङ्काल का किस प्रकार विन्यास है, यह तो ज्ञात नहीं है; परन्तु इतना अवश्य ज्ञात है कि भीतर बहुत गर्म है तथा बाज़ समय अन्तरिन्द्रिय चंचल होने से जो हृत्स्पन्दन तथा क्रोधवह्नि प्रकट होती है वह अभागे संतानों के लिए प्राणघातिनी होती है।

जो हो, ऊपर का चर्म्म अपेक्षाकृत शीतल होने से सन्तानगण किसी प्रकार से दिन यापन कर रहे हैं।

ऊपर का चर्म्म स्तरों में विन्यस्त देखा जाता है। अर्थात् एक स्तर के ऊपर दूसरा स्तर, जैसे कि प्याज़ का छिलका होता है। परन्तु हाय उन तहों में ढूँढ़ने से अपने बहुत से भगिनी-भ्राताओं के अस्थि के कङ्काल निहित देखकर अपने परिणाम के लिए आपसे आप दीर्घ साँस निकलने लगती है।

आश्चर्य्य का विषय है कि जिन लोगों का देहावशेष मिलता है वे लोग भी हम लोगों की तरह दर्पपूर्वक विचरण करते थे; परन्तु आकार में वे बहुत विभिन्न थे। वे लोग भी जीव थे, पर वे कैसे जीव थे ?

स्तर सर्वत्र यथाविन्यस्त नहीं हैं। टूट फूट कर तथा टेढ़े होकर पृथ्वी पर बहुत ऊँचे नीचे हो गये हैं। तथापि इनके विन्यास में एक क्रम दृष्टिगोचर होता है। जिन प्राचीन जीवों के अवशेष इन स्तरों में निहित दिखलाई पड़ते हैं उनके आकार प्रकार तथा बनावट से एक कालानुक्रमिक और धारावाहिक विकाश-उन्नति तथा अभिव्यक्ति प्रकट होती है। देखा जाता है कि असंख्य स्रोतस्वती जलधाराएँ धीरे तथा अलक्षित रूप में निरन्तर पर्वतों को तोड़ती फोड़ती भूपृष्ठ के उन्नतावनत को अपनयन करने की चेष्टा कर रही हैं और सागरगर्भ में प्राचीन स्तर पर नवीन स्तर जमा रही हैं। पुरातनी सुरधुनी की सहस्रधारा "गत-प्राणी मृतकाया" सहस्र जीवों के काकशृगाल-परित्यक्त-देहावशेष को बहाती हुई भविष्य के भूतत्त्वविदों के लिए अद्यापि स्तर जमा रही है।

आजकल बंगदेश में गंगामुख में तथा मिश्र देश में नील-मुख में जो व्यापार हो रहा है, उसी तरह करोड़ों वर्षों से न जाने कितने नदी-नद पृथ्वी पर ऊँची नीची ज़मीन को बराबर करने में लगे हुए हैं। आजकल जिस प्रकार अलक्षित में स्तरविन्यास हो रहा है, अति प्राचीन समय में भी इसी प्रकार होता रहा होगा, इस विषय में संशय करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। इस प्रणाली से क्रमशः स्तर के ऊपर स्तर जम कर प्रायः लाख फ़ीट मोटा आवरण पृथ्वी पर हो गया है। गङ्गा, नील, मिसिसिपी इत्यादि बड़ी बड़ी नदियाँ कितनी मिट्टी बहा ले जाती हैं, इसका हिसाब लगाने पर पृथ्वी के त्वगावरण के निर्म्मित होने के समय का बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है।

एक उदाहरण दिया जाता है। यह उदाहरण मृत आचार्य हक्सली से प्राप्त है। पृथ्वी के इतिहास में एक ऐसा युग था जिस समय बड़े बड़े भूखंड महावन से ढके हुए थे। पृथ्वी पर उस अरण्य-उद्भिद् का अवशेष जम कर एक विस्तीर्ण चद्दर सा हो गया। कुछ कालोपरान्त भूगर्भ के संकोचन से उस भूखंड के समुद्र में डूब जाने पर चारों ओर से असंख्य नद-नदियों ने मिट्टी ला कर उस उद्भिद् की चद्दर पर स्तर जमा दिया। इस प्रकार समुद्रगर्भ के पट जाने पर उस पर फिर महावन हुआ। फिर वैसी ही घटना हुई। उसके बाद फिर मिट्टी का थोक जमा। इसी प्रकार न मालूम कितने वर्षों से पृथ्वी का त्वक्-निर्म्माण-कार्य हो रहा है। हम लोग उस त्वगावरण को जगह जगह भेद कर पत्थर का कोयला निकालते और उसका प्रयोग करते हैं।

तीस चालीस हाथ मोटी एक एक पत्थर के कोयले की तह मिलती है और बाज़ बाज़ जगहों में इस प्रकार की एक के ऊपर एक दो अढ़ाई सौ तहें मिलती हैं। ख़याल करो, पचास पीढ़ी उद्भिद् के देहावशेष के जमने से पत्थर के कोयले की एक फ़ीट मोटी तह जमती है— तथा एक एक पीढ़ी उद्भिद् का जीवनकाल दश वर्ष है। ऐसा होने से एक फ़ीट तह जमने में पचास वर्ष लगेंगे। पचास फ़ीट मोटे स्तर के अढ़ाई सौ स्तरों के जमने में साठ लाख वर्ष से भी अधिक लगते हैं।

याद रखने की बात है कि पत्थर के कोयलों का स्तर जमना पृथ्वी की आयु का एक बिलकुल थोड़ा हिस्सा है। विचारना चाहिए कि पृथ्वी की क्या आयु है!

भूतत्त्वविदों के सौभाग्यवश समय के आरम्भ की कल्पना नहीं हो सकती। अनादिकाल के सम्मुख कोटि कोटि वर्ष एक पल के समान हैं। इसी से भूतत्त्ववेत्ता लोग पृथ्वी के पञ्जरस्थ एक एक स्तर निर्म्मित होने के लिए दश बीस करोड़ वर्ष की व्यवस्था करने में तनिक भी नहीं संकुचित होते।

भूविद्या और जीवविद्या एक ही प्रथानुयायिनी हैं। जीवविद्या कहती है कि मनुष्य का निकटस्थ सम्बन्धी बन्दर है। बन्दर ही रूपान्तरित हो कर मनुष्य हो गया है। असल में मनुष्य की उत्पत्ति की कोई विचारसंगत विधि को किसी ने अभी तक सोच नहीं पाया। परन्तु मनुष्य कितने वर्षों से पृथ्वी पर इस रूप से है इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। नहीं तो एक लाख वर्ष के भीतर मनुष्य-शरीर में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ है,

इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। बन्दर-शरीर को मनुष्यत्व में परिणत हुए कितने वर्ष हुए, इसका भी कुछ पता नहीं चलता और अति सामान्य जीवाणु से मर्कट महाशय के अभिव्यक्ति-कार्य में कितने करोड़ वर्ष लगे होंगे इसको कौन कह सकता है!

अतएव यह सिद्ध हो गया कि करोड़ों वर्षों से भूपिंजर पर आधुनिक समय की तरह स्तर जमता चला आ रहा है और गत करोड़ों वर्षों में अंगहीन अचेतन जीवादि से अभिव्यक्ति के धारानुसार मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। अतः प्राचीना वसुन्धरा की उम्र का कुछ पता ही नहीं।

भूतत्त्वविद् और जीवतत्त्वविद् इस प्रकार के सिद्धान्त पर दृढ़ थे। ऐसे अवसर में सर विलियम टामसन (लार्ड केलविन) ने एक भयानक सन्देह उपस्थित किया। उन्होंने कहा कि कुछ दिन हुए,—यह बहुत दिनों की बात नहीं है—पृथ्वी की अवस्था इस वर्त्तमान अवस्था से बिलकुल ही भिन्न थी। उस समय वसुन्धरा के लिए सूतिकागृह का निर्म्माण हो रहा था। ज्योतिर्विद्या और पदार्थविद्या उस सूतिकागृह की चहार-दिवाली के बनने की तारीख़ जानती हैं। आजकल नदी-नद जिस प्रकार स्तर जमा कर रहे हैं, उस समय भी इसी तरह से होता था, यह कहना अनुचित है। उस समय पृथ्वी जीवों के रहने के लिए हुई थी इस विषय में भी सन्देह है। इस सन्देह के प्रधानतः तीन कारण हैं—

(१) आजकल पृथ्वी एक दिन-रात में एक चक्कर लगाती है। पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है और चन्द्र पृथ्वी

के समुद्र के जल को खींच रहा है। इसी से पृथ्वी के चक्कर लगाने में विघ्न पड़ता है। इस जलराशि के विपरीत पृथ्वी को घूमना पड़ता है। माने एक चक्की वेग से घूम रही हो और उसकी परिधि पर लकड़ी का एक टुकड़ा छुआ रह कर उसके चक्कर लगाने में बाधा दे रहा हो। इस विघ्न के होने से घूमने का वेग भी क्रमशः कम हो रहा है। दो हज़ार वर्ष में जो आवर्तन का वेग था उससे अब वेग कम हो गया है। अब एक चक्कर लगाने का समय कुछ बढ़ गया है अर्थात् दिन-रात का परिमाण अब अधिक हो गया है। इस विषय के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। इसलिए अवश्य इस कारण से पृथ्वी के चक्कर लगाने का वेग बहुत दिन से कम हो रहा है। सहस्रकोटि वर्ष पूर्व पृथ्वी के चक्कर लगाने का वेग वर्तमान वेग की अपेक्षा द्विगुण गणना करने पर इस प्रकार सिद्ध होता है। आजकल जिस २४ घंटों का एक दिन और रात होता है, उस समय वैसे १२ घंटों का एक दिन-रात होता था। अतएव पृथ्वी की जो अवस्था उस समय रही होगी, उससे आजकल की अवस्था से समता नहीं हो सकती। भूतत्त्व-वेत्ता लोग एकही साँस में जो लाख वर्ष का हवाला दिया करते हैं, उसका कुछ भी मूल्य ज्योतिर्विद्या के हिसाब से नहीं है। इस समय के स्तरनिर्म्माण-कार्य को देख कर उस समय के स्तरनिर्म्माण व्यापार के साथ कोई तुलना ही नहीं हो सकती।

(२) सूर्य्य पृथ्वी को आजकल जिस परिमाण से तापित कर रहा है उसका लगभग परिमाण दिया जा सकता है। उस ताप के एक अंशमात्र से नद-नदी की सृष्टि, गति तथा जीव की

उत्पत्ति और यह लीला हो रही है। परन्तु सूर्य्य सर्वदा ही से इस प्रकार ताप-विकरण नहीं कर रहा है। ज्ञात होता है कि पचास करोड़ वर्ष पहले सूर्य्य बिलकुल ही ताप नहीं देता था। उस समय सूर्य्य में ताप-विकरण करने की शक्ति ही नहीं थी। अतएव उस समय पृथ्वी पर वर्षा नहीं होती थी, नद-नदी भी नहीं थे; जीव के अस्तित्व की बात ही निराली थी।

(३) पृथ्वी एक तप्त-पिंड की तरह है। केवल उसके ऊपर का चमड़ा अनुमान से अधिक शीतल हो गया है। प्रत्येक वर्ष पृथ्वी से बहुत सी गर्मी निकल कर चारों ओर विकीर्ण हो रही है अर्थात् पृथ्वी क्रमशः ठंडी हो रही है। अधुना पृथ्वी की दशा कैसी है तथा हर वर्ष कितनी गर्मी निकलती है इसके जानने से गणना करके यह कहा जा सकता है कि भविष्य में पृथ्वी की कब कैसी अवस्था होगी। इस प्रकार भूतकाल में, कुछ नहीं तो कई करोड़ वर्ष पूर्व, पृथ्वी की कब कैसी अवस्था थी वह भी गणना कर कह सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पुराकाल में पृथ्वी और भी गर्म थी। लार्ड केलविन के गणनानुसार दस करोड़ क्या बीस करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी पर इतनी गर्मी थी कि उस समय भूपृष्ठ पर शीतल धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई थी अर्थात् पृथ्वी उस समय बाल्याकार अथवा तरल अवस्था में थी। अतएव उस समय जीवगण भी नहीं थे। टेट साहब की गणना के अनुसार यह समय दस बीस करोड़ वर्ष तक नहीं होता। वे एक करोड़ वर्ष से अधिक नहीं मानते।

निदान यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी की अवस्था बहुत

अधिक नहीं है। भूविद्या और पदार्थविद्या जो यह कहती हैं कि पृथ्वी की अवस्था का पता नहीं है, यह ग़लत है। केवल एक करोड़ वर्ष हुए (ऐसा भी हो सकता है कि करोड़ वर्ष भी न हुए हों) पृथ्वी का पृष्ठ भाग शीतल तथा कठिन हुआ था। भूपृष्ठ पर स्तर-विन्यास, जीवों की उत्पत्ति आदि सब काम लक्ष वर्ष के भीतर ही होने लगे होंगे।

उभय पक्ष के शास्त्रार्थ का फल यह हुआ कि भूपृष्ठ की काठिन्य-प्राप्ति के बाद यदि पृथ्वी की अवस्था का हिसाब लगाया जावे तो उसकी अवस्था केवल कई करोड़ या कई लाख वर्ष होती है। उसके पहले पृथ्वी इतनी गर्म थी कि इस पर जीव का निवास सम्भव नहीं था। ऐसा भी हो सकता है कि उस समय सूर्य्य से पृथ्वी पर सम्यक् परिमाण से ताप भी नहीं आता था और उस समय पृथ्वी का आवर्त्तन वेग इतना प्रबल था कि इस समय की दिवा-रात्रि ऋतुपरिवर्तनादि के साथ उस समय की तत्तद्घटना का कुछ सादृश्य तक न रहा हो। भूविद्या जो अम्लान भाव से पृथ्वी-पृष्ठ पर एक सूक्ष्म परदे के बनने में दस बीस करोड़ वर्ष चाहती है और जीवविद्या जो केवल मर्कट को मनुष्य बनाने में लाखों वर्ष की आवश्यकता दिखलाती है, उनका इस प्रकार का दावा अग्राह्य है।

आचार्य्य हक्सली ने भूविद्या तथा जीवविद्या की ओर से इसके जवाब देने की चेष्टा की है।

लार्ड कैलविन पहले तो भूविद्या की दस करोड़ वर्ष वाली बात मानने पर राज़ी थे। भूपृष्ठ पर प्रायः लाख फ़ीट मोटा स्तर

जमा है। ऐसा होने से यह बात माननी पड़ती है कि हज़ार वर्ष में एक फुट स्तर जमा होगा। यह कुछ असम्भव बात नहीं है, तथा हक्सली के मतानुसार भूविद्या भी इस परिमित काल से अधिक समय के दावा करने की आवश्यकता नहीं समझती। इस दस करोड़ वर्ष में लाख फ़ीट मोटा स्तर जमा है और इस विचित्र जीव-जगत् में प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा विविध प्राणियों तथा विविध उद्भिदों की सृष्टि हुई है, यह किसी प्रकार असम्भव नहीं हो सकता।

एक और बात है। केलविन की विचार-प्रणाली में किसी प्रकार की भूल की सम्भावना नहीं है। परन्तु जिन संख्याओं को लेकर उन्होंने हिसाब लगाया था वह, उन्होंने स्वीकार किया है कि, केवल अनुमान मात्र था। भूपृष्ठ पर जल-स्थल के समावेश में कुछ भी गड़बड़ होने से, समुद्र-जल के कुछ जम कर स्तूपाकार में मेरुप्रदेश से हट जाने पर पृथ्वी के आवर्तन-वेग में कुछ गड़बड़ हो सकती है। पृथ्वी के इतिहास में किस समय जल-स्थल का, तथा जल-बर्फ़ का समावेश कैसा था इस के न जानने से कोई एक सिद्धान्त नहीं ठहरा सकता। लार्ड केलविन ने स्वयं यह सब बातें उठाई थीं। इसके सिवा सूर्य्य के अवस्था-सम्बन्ध में तथा सूर्य्यकर्तृक विकीर्ण ताप के परिमाण के विषय में हम लोगों की अभिज्ञता बहुत ही कम है। केलविन ने स्वयं इस विषय में अपना सिद्धान्त कई बार बदला है। अतएव ठीक इतने वर्ष पहले सूर्य्य से गर्मी निकलती थी कि नहीं, इसका निश्चय कर कहना दुःसाहसिक बात है। इसके,

बाद पृथ्वी की गर्मी की बात लीजिए। इसकी आभ्यन्तरिक अवस्था से अभी तक हम लोग सम्पूर्णतः अज्ञ हैं। भूगर्भ में जो जो पदार्थ हैं उनका तापपरिचालन करने का सामर्थ्य कितना है तथा उष्णता के होने से उनका तापपरिचालन करने का सामर्थ्य बढ़ता है कि नहीं, इन सबों का गणना में समावेश न करने से पृथ्वी की अवस्था के निर्धारण करने में बड़ा भारी भ्रान्ति की सम्भावना है। सम्प्रति लार्ड केलविन के कई एक चेले गुरुप्रदत्त गणना की विशुद्धि में सन्देह करने लगे हैं। वस्तुतः इन विषयों में हम लोगों को और भी भूयोदर्शन तथा अभिज्ञता की आवश्यकता है। आज केलविन जहाँ दस करोड़ वर्ष स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं, और कुछ अभिज्ञता के होने से वहाँ पचास करोड़ स्वीकार करने में वे पराङ्मुख न होंगे। अतएव इस प्रकार के क्षेत्र में भूतत्त्वविदों तथा प्राणितत्त्वविदों को हार मान कर पतवार छोड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं।

आशा की जाती है कि बहुत शीघ्र भूविद्या तथा जीवविद्या, विरुद्ध दण्डायमाना पदार्थविद्या तथा ज्योतिर्विद्या के साथ सन्धि कर मामला तय कर डालेंगी तब हम लोग भी जननी वसुन्धरा की अवस्था का कुछ तथ्य जानकर सन्देहरहित हो सुचित्त हो जायँगे।*

---

* अधुना रेडियम नामक अद्भुत धातु का आविष्कार होने से लार्ड केलविन का हिसाब उलट पुलट हो गया है।

ज्ञान की सीमा

गत सौ वर्ष में ज्ञान की परिधि इतनी बढ़ गई है कि इस बढ़ती को देख कर एक धीर व्यक्ति भी आपे से बाहर हो जाता है। कोई तो सोचता है कि मनुष्य के जानने के लिए अब कुछ बाक़ी ही नहीं है, कोई सोचता है कि ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ पर मनुष्य की बुद्धि न पहुँचती हो। जान पड़ता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मनुष्य के विजय किये हुए ज्ञानराज्य के अन्तर्गत हुआ चाहता है। मालूम होता है कि शीघ्र ही मनुष्य को दिग्विजयी सिकन्दर की तरह, अजित भूमि के अभाव से, अश्रुपात करना पड़ेगा। गत कई वर्षों में मनुष्य के ज्ञान की परिधि कितनी प्रसारित हो गई है, इस क्षुद्र प्रबन्ध में उसी की संक्षिप्त आलोचना होगी।

प्रवीणता तथा प्रभाव के हिसाब से ज्योतिर्विद्या विज्ञानराज्य में सबसे बड़ी है। न्यूटन की अलौकिक धीशक्ति ने सौर जगत् की जटिल शृङ्खला को एक बारही तोड़ दिया था। ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु या उल्का-पुञ्ज—सौर जगत् में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो ज्योतिर्विदों की गणना के बहिर्भूत हो। दूरबीन से देखने के पहले गणना के अनुसार नेपच्यून का आविष्कार हुआ है। दूर-बीन से जो कभी भी नहीं दिखाई देंगे ऐसे निर्वापित नक्षत्रों

का अस्तित्व भी सिद्ध हुआ है। कौन ग्रह कितनी दूरी पर है, हिसाब लगा कर कहने में कठिनता नहीं होती। ग्रह की बात जाने दीजिए, प्रायः प्रति सेकंड लाख कोस के हिसाब से जिन नक्षत्रों से प्रकाश के आने में २० वर्ष या ३० वर्ष लगते हैं उनका भी दूरत्व एक प्रकार से परिमित हो गया है। हम लोगों के नक्षत्र-जगत् की, जिनमें दूरबीन से देख पड़नेवाले तारे कई करोड़ हैं, आकृति तथा आयतन भी एक प्रकार से स्थिर हो गया है। यह प्रकट है कि हम लोगों का इतना बड़ा सूर्य्य इन बहुकोटि तारों में एक बहुत ही छोटा सा तारा है। एक तारे से पासवाले दूसरे तारे को प्रकाश पहुँचने में दो तीन वर्ष लगते हैं। सोचने की बात है कि यह तारकाजगत् कितना विशाल है! तथापि इस विशाल दृश्यमान जगत् के आयतन तथा परिधि के निरूपण की चेष्टा सम्पूर्ण निष्फल नहीं हुई।

इन बहुसंख्यक तारों में किसका गठन किस प्रकार का है, किसमें लोहा है, किसमें जस्ता है?—आलोकविश्लेषण यन्त्र प्रतिदिन इसकी नई ख़बर ला कर बतलाता है। रूटर के भेजे हुए तारों में ग़लती हो सकती है किन्तु इस क्षुद्र यन्त्र के कई एक काँच, जो ख़बर बतलाते हैं वे, अभ्रान्त सत्य हैं। हम लोगों के सूर्य्यमण्डल में कब और कहाँ तथा कितने ज़ोर से आँधी चल रही है? अमुक तारा घंटे में किस हिसाब से हम लोगों के पास आ रहा या दूर जा रहा है? वह अमुक तारा जो देख पड़ता है एक है या दो तारे परस्पर चक्कर लगा रहे हैं? अमुक तारे में अचानक उद्जान वाष्प के जल उठने से महाप्रलय हो गया,

न जाने कितनी ससागरा, सद्वीपा, समानुषा, धरित्री एक-बारगी वाष्पमयी हो गई।—इस प्रकार के न जाने कितने संवाद प्रतिक्षण यह क्षुद्र यन्त्र बतलाता है।

न्यूटन की कल्पना से जगत् की स्थिति तथा गति की व्यवस्था मालूम हुई है। हर्शल से आकृति तथा आयतन के जानने की चेष्टा हुई है। किर्कफ़ के समय से गठन तथा उपकरण क्रमशः निवृत्त हो रहा है। अब जगत् के जीवन के इतिहास की चर्चा है। केलविन की धीशक्ति ने पृथ्वी और सूर्यमण्डल की अवस्था का निरूपण किया है, कुण्डलीगणना अद्यापि समाप्त नहीं हुई, आचार्य्य महाशयगण अभी तक गणना करने में नियुक्त हैं। लकियर प्रभृति विद्वानों ने अवस्थानुसार ग्रहों का विभाग किया है। लाप्लास के पथानुयायी हेलमहोलज़ ने सौर जगत् की भ्रूणदशा से लेकर आनुक्रमिक अंगविकाश एवं धीशक्ति-सञ्चार का निर्देश किया है तथा केलविन ने जगत् की अंतिम दशा में प्रलयकाल का चित्र खींच कर मनुष्य के गर्व को चूर्ण किया है। एक समय चन्द्रमण्डल पृथ्वी की कोख में छिपा हुआ था! भूमण्डल भी बुध, शुक्र, शनैश्चर प्रभृति सहित सूर्य्य-मण्डल का अंगीभूत था! सूर्य्यमण्डल भी अपने कलेवर को सौर जगत् की परिधि पर्य्यन्त प्रसारित कर, वाष्पाकार में विस्तीर्ण था तथा विश्व जगत् के असंख्य तारकासमूह से एक वाष्पमय महासागर की तरह विश्व जगत् व्याप्त था। वही वाष्पमय महासागर कालक्रम से छिन्न भिन्न तथा घनीभूत होकर दृश्य-मान जगत् हुआ है। आगे चल कर सूर्य्यमण्डल निष्प्रभ होगा,

जा तारे आकाश में चमक रहे हैं, एक एक करके सब बुझ जावेंगे या सूर्य्य से टकरा टकरा कर अन्त में एक वाष्पमय महासागर फिर से विश्वव्याप्त होगा अथवा एकमात्र शीतल महापिण्ड के रूप से आकाश में अवस्थान करेगा। आख़िर में क्या होगा, यह अभी स्थिर नहीं किया जा सकता।

ज्योतिर्विद्या से पदार्थविद्या में आने से देखा जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में यह शास्त्र अकल्पित वेग से विस्तृत हुआ। प्रकाश के वेग का परिमाण हुआ है। आलोकवाही ईथर के अस्तित्व का आविष्कार हुआ है। प्रकाश की छोटी छोटी लहरों का परिमाण निर्दिष्ट हुआ है। लाल प्रकाश सेकंड में कितने करोड़ बार आँख के परदे पर टक्कर मारता है, हरा कितनी बार मारता है? इसकी गणना अब कोई भी व्यक्ति कर सकता है। गर्मी के साथ प्रकाश का सम्बन्ध निर्धारित हुआ है। जड़ परमाणु की स्पन्दनसंख्या भी गिन ली गई है। यहाँ तक कि वाष्पीय पदार्थ के अणुओं की असंयत गति का वेग भी निर्धारित हो गया है।

मेन्देलीयेफ़ ने ७० प्रकार के मूल पदार्थ के सम्बन्ध-निर्णय का पथ दिखलाया है। केलविन की प्रतिभा सूक्ष्मानुसूक्ष्म जड़परमाणु के आयतन के परिमाण को सिद्ध करने में सफल-मनोरथ हुई है। फ़ैराडे ने जड़ जगत् के एक से एक अलौकिक रहस्यों को प्रकाश कर तड़ित् शक्ति को मनुष्य की नौकरी करने के लिए नियुक्त किया है! क्लार्क मैक्सवेल की धीशक्ति ने प्रकाश, तड़ित् तथा चुम्बक शक्ति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष किया है। अध्यापक

हार्ट्ज़ ने ईथर में कोसों लम्बे, दिखलाई न पड़नेवाले, प्रकाश की तरंगों के अस्तित्व का आविष्कार कर प्रतिभा के समर-क्षेत्र में विजय-पताका उड़ाई है।

पदार्थविद्या के पश्चात् जीवविद्या की पारी आती है। जीव-शरीर में जिस क्रिया-समष्टि को जीवन या प्राण कहते हैं वह केवल जड़शक्ति का विकाश है। विविध जड़शक्ति ही की सुनियत क्रिया के पारस्पर्य्य से जीव का जीवन-तत्त्व समझाया जा सकता है और समझाया जायगा। वर्त्तमान समय की जीव-विद्या यही आशा करती है। जड़ और जीव के मध्य में जो अन्तर देख पड़ता है वह भित्तिहीन तथा अलीक है। इस अन्तर को देख कर वैज्ञानिक कभी भी तत्त्वान्वेषण करने में पराङ्मुख न होंगे।

उद्भिद् का उद्भिद् के साथ, प्राणी का उद्भिद् के साथ तथा प्राणी का प्राणी के साथ जो सम्बन्ध है उसका निर्णय जीवविद्या करती है। वह प्रत्येक जीव को जीव-साधारण की वंशानुक्रम-सूची में उचित स्थान देती है; अभिव्यक्ति के परम्परानुसार प्रत्येक जाति के उद्भव की धारा नियत करती है। बहिःप्रकृति से जीवकोश के स्वातन्त्र्य की रक्षा ही जीवकोश के जावन का उद्देश्य है। वाह्य तथा आभ्यन्तरिक जड़शक्तियों का अनुयायी सामञ्जस्य यत्न ही जीवन कहलाता है। उस सामञ्जस्य का नाश ही मृत्यु है। जीवकोष से मिलित जीवन ही जीव का जीवन है। जीवनरक्षा के यत्न के लिए शरीर का अंगविभाग तथा अवयवविभाग हुआ है। जीवनरक्षा का प्रयत्न ही आत्मपुष्टि है। आत्मपुष्टि ही के परिणतिक्रम से अथवा प्रकार-भेद से वंशरक्षा या

सन्तानोत्पादन होता है। व्यक्तिगत जीवनरक्षा के यत्न ही से जाति भेद, श्रेणीभेद तथा वर्णभेद की उत्पत्ति हुई है। जीवनरक्षा की उपयोगिता से व्यक्तिगत उत्कर्ष तथा अनुपयोगिता से अपकर्ष होता है। इस जीवनयुद्ध में विजयलाभ करने की चेष्टा का परिणाम ही जाति-गठन होने का कारण है। वृक्ष के तने की परिणति से शाखा, शाखा की परिणति से पत्र, पत्र के समवाय ही से पुष्प और परिणत पत्र ही बीज है। जातीय पुष्टि और वंश-वृद्धि व्यक्तिगत पुष्टि या आहारक्रिया का ही रूपान्तरमात्र है। शाखा जिस प्रकार वृक्ष शरीर का केवल अंश है उसी प्रकार बीजोत्पन्न सन्तानवृक्ष भी पितृवृक्ष का अंशीभूत है। सम्बन्ध में दोनों एक ही हैं। हमारे हाथ-पैर से जो हमारा सम्बन्ध है उसी प्रकार का सम्बन्ध तुमसे हमारे पालतू कुत्ते से है अथवा हम, तुम, कुत्ता सभी एकमात्र जीव के विच्छिन्न अंग प्रत्यंगमात्र हैं। ये सब बातें कविता नहीं हैं, कल्पना नहीं हैं, वाक्यालङ्कार नहीं हैं, किन्तु विशुद्ध ज्ञान हैं। प्रकृति का नियम स्त्री-पुरुष भेद नहीं है, तथा ऐसी बात नहीं है कि केवल स्त्री-पुरुष के भेद ही से वंशरक्षा हो सके; प्रत्युत व्यक्तिमात्र ही स्त्री है या व्यक्तिमात्र ही पुरुष है अर्थात् व्यक्तिमात्र ही स्त्री और पुरुष है। किसी का स्त्रीत्व और पुरुषत्व दोनों अविकसित रहता है, किसी में दोनों भाव ही समान रूप से विकसित रहते हैं तथा किसी व्यक्ति में स्त्रीभाव पुरुषत्व में लीन रहता है और किसी में पुरुषत्वभाव स्त्रीभाव से आच्छादित रहता है।

मृत्यु स्वभाव का धर्म्म नहीं है, जीवन का अवश्यम्भावी परिणाम नहीं है; मृत्यु केवल जातीय जीवन की वृद्धि के लिए व्यक्ति-

जीवन का उपार्ज्जित—अर्थात् होनेवाला—तथा व्यक्तिजीवन में प्रकाशित धर्म्म है। जीवन-रक्षा करने के लिए आत्मानुराग अथवा स्वार्थवृत्ति होती है। जातीयजीवन की रक्षा के लिए पिता माता का अपत्यस्नेह होता है। जाति के साथ जातीय जीवनयुद्ध में स्वजाति सहित स्वार्थत्याग व्यवहार आवश्यक है। इसी से समाजशासन, इसी से प्रवृत्तिसंयम, इसी से सामाजिकता और इसी से धर्म्मभय की उत्पत्ति होती है। जीवविद्या ने जीव के प्रकाशित होने के कारण की समालोचना कर समाजविद्या की सृष्टि की है, मनोविज्ञान के गठित करने का उपाय बतलाया है तथा नीतिशास्त्र और धर्म्मशास्त्र की मूलभित्ति की स्थापना की है।

जीवविद्या के पश्चात् समाजविद्या की पारी आती है। समाज शारीरिक पदार्थ है। अगस्ट कोमत ने इसको अस्पष्ट देखा था, परन्तु हर्बर्ट स्पेन्सर ने इसको स्पष्ट देखकर जीवविद्या पर समाजविद्या की भित्ति स्थापित की है। वास्तव में समाजविद्या जीवविद्या के अन्तर्गत है। दोनों विद्यायें डारविन की प्रतिभा की समान ऋणी हैं। "योग्य पुरुष की स्थिति तथा अयोग्य का विनाश", इस मूलसूत्र ही का स्थापन जीवविद्या का निचोड़ है। यह समाजविद्या का भी मूल तथा सार है। अतएव इतिहास, अर्थनीति, राजनीति, धर्म्मनीति और समाजविद्या की जितनी शाखायें हैं सबकी नींव स्थापित हुई। यह कहना अनुचित न होगा कि यह केवल नींव ही दी गई है, अभो दीवाल नहीं उठाई गई। आशा है कि शीघ्र ही विशाल अट्टालिका बनेगी तथा चित्त-रञ्जन करने में समर्थ होगी।

अब धर्म्मनीति के विषय में दो-एक बातें कहना आवश्यक जान पड़ता है। जिस प्रकार एक ओर धर्म्मनीति समाजविद्या के आश्रित है, उसी प्रकार दूसरी ओर मनोविज्ञान इसका अन्यतर अवलम्ब है। मनोविज्ञान की बात फिर कहेंगे। जिस दिन से समाज की उत्पत्ति हुई है उसी दिन से धर्म्म की आवश्यकता हुई है तथा धर्म्मनीति स्थापन करने में मनुष्य प्रयत्नशील है। अतएव प्राचीनता में धर्म्मशास्त्र किसी शास्त्र से पीछे नहीं है। यह ज्योतिषशास्त्र से भी पुराना है। दूसरे शास्त्रों से समाज की उन्नति हो सकती है पर धर्म्मशास्त्र पर समाज की स्थिति निर्भर है। अति प्राचीनकाल से सब देशों के मनस्वीगण धर्म्म-शास्त्र की नींव डालने का प्रयत्न करते आये हैं। कुछ दिन से सम्प्रदाय-विशेष मनोरञ्जन कर रहा है; परन्तु अभी पक्की नींव नहीं पड़ी। डारविन ने "डिसेंट आफ़् मैन" अर्थात् मनुष्य की उत्पत्ति नामक ग्रन्थ में धर्म्मशास्त्र के मूलसूत्र को प्रकाशित किया है अथवा उसकी व्याख्या की है। अब भविष्य में पूर्णता-लाभ की आशा की जाती है।

पाप और पुण्य इन दो शब्दों पर सदा से आन्दोलन होता रहा है। पाप-पुण्य की उत्पत्ति के आविष्कार में नाना युक्तियों और वितण्डा का प्रयोग किया गया है। इस रहस्य के खोलने के लिए तर्क, विवाद, रक्तपात न जाने क्या क्या नहीं किया गया। डार-विन ने मीमांसा-पथ को साफ़ कर दिया है। जितना प्रकाश उन्होंने मीमांसा-पथ में किया है, उनके पूर्व वैसा नहीं था। किस प्रकार उन्होंने प्रकाश किया है, उसकी चर्चा इस प्रबन्ध में न की जायगी।

जीवनरक्षा के लिए जीव से पत्र और पुष्प की उत्पत्ति हुई, हाथ-पैर और मस्तिष्क की सृष्टि हुई है तथा बुद्धिबल, सामर्थ्य प्रभृति स्वार्थवृत्ति की सृष्टि हुई है। जातीय जीवन-रक्षा के लिए मृत्यु की, स्वार्थत्याग-वृत्ति की, स्नेह, ममता, दया, दाक्षिण्य प्रभृति परार्थवृत्ति की तथा समाजधर्म्म की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार धर्म्मवृत्ति की उत्पत्ति तथा पाप-पुण्य की सृष्टि हुई है। पुण्य सनातन नहीं है, और न पाप ही सनातन है। जिससे समाजजीवन की रक्षा होती है वही पुण्य है तथा जिससे विनाश होता है वही पाप है। यदि समाजजीवन की रक्षा के लिए व्यक्तिजीवन उत्सर्ग करना हो तो करो। इसी उत्सर्ग का नाम धर्म्म है, इस उत्सर्ग के न करने से अधर्म होता है। धर्मसाधन करना कर्त्तव्यकर्म्म है। तुमको सुख हो या दुःख, समाजजीवनरक्षा करनी ही होगी तथा धर्म्मसाधन करना ही होगा। स्वर्ग का प्रलोभन है, नरक की वह्नि-शिखा का डर है, राजा का दण्ड है, पुरोहित का शासन है तथा समाज की साधारण शक्ति का प्रबल पेषण है कि धर्मसाधन करना ही पड़ेगा। परन्तु, यदि, तुम प्रलोभन-वशतः तथा पीड़न के डर से धर्म्मसाधन करो तो तुम को धार्म्मिक नहीं कहेंगे। यशोलाभ की इच्छा से वदान्य होने पर दाता नहीं कहेंगे। यदि तुम्हारी मनोवृत्तियाँ आपसे आप धर्मपथ-गामिनी हैं, यदि तुम्हारी प्रवृत्तिसमाज रक्षा के अनुकूल पथ पर स्वतः ही होती है, तो तुम धार्म्मिक हो; क्योंकि धार्म्मिकता ही तुम्हारा स्वभाव है। धार्म्मिक न होने से तुम्हारा काम नहीं चलता तथा धर्म्माचरण के बिना तुम्हारे आत्मा को शान्ति नहीं होती।

इसके बाद मनोविज्ञान है। क्रमशः शरीर के साथ मन का सम्बन्ध निर्धारित हो रहा है। गाल साहब की आविष्कृत भ्रम-पूर्ण मस्तिष्कविद्या की जगह क्रमशः विशुद्ध ज्ञान से पूर्ण हो रही है। इसके बाद जगत् का स्वरूपनिर्णय है। जड़वादी उपहासास्पद हुए हैं, तथा आत्मवादियों की मिथ्या जल्पना का भी खण्डन होने लगा है। बर्कले, ह्यूम तथा क्यान्ट की स्थापित नींव को आचार्य्य हेलमहोलज्ज ने पदार्थ-विज्ञान के साहाय्यलब्ध मसाले से दृढ़ कर दिया है। नहीं मालूम चित् अर्थात् चैतन्य क्या है? तथा जड़ क्या पदार्थ है? विज्ञान ने अपनी अज्ञानता स्वीकार करते हुए तत्त्वदर्शिता का परिचय दिया है। एक ही पदार्थ के दो भाव हैं; एक ओर जड़ तथा दूसरी ओर चित्। संकेत से काम चलता है। तार-बाबू जिस प्रकार संकेत से काम चलाते हैं तथा विदेश में संवाद भेजनेवाले की बात खींच लाते हैं उसी प्रकार संकेत से चैतन्य काम कर रहा है। जड़-जगत् का अस्तित्व केवल कल्पना है। यही कल्पना जीवन-रक्षा करने का एक उपाय तथा कौशल है। प्रकृति कराती है, इसीसे नियुक्त्यनुसार काम होता है।

प्राकृत सृष्टि

एक समय ऐसा था जब कुछ भी नहीं था। जो कुछ देख पड़ता है, जो प्रत्यक्षगोचर वा अनुमानगम्य है इनमें से कुछ भी नहीं था। केवल एक ही पुरुष था जो प्रत्यक्षगोचर या अनुमानगम्य नहीं है। चाहे दो एक जानते हों तो जानते हों, नहीं तो अधिकांश मनुष्य उनसे अपरिचित हैं। उन्होंने इच्छा की कि सृष्टि हो और सृष्टि हुई। जो कुछ देख पड़ता है, देखा जायगा तथा जिससे दिखलाई देने की सम्भावना है, सभी न जानें कहाँ से अकस्मात् आविर्भूत हो गये। इसी प्रकार की एक सृष्टि-प्रक्रिया की वर्णना है, परन्तु वर्त्तमान प्रबन्ध में इसकी चर्चा नहीं की जायगी।

प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार इत्यादि क्रमशः आकाश, आकाश से वायु, इसी तरह का अथवा इसकी कुछ रूपान्तर सृष्टि-प्रणाली का भी वर्णन है, जो उन्नत मनुष्य के परिणत विचारों का फल है। इसको दार्शनिक नाम से भी पुकार सकते हैं। इस प्रबन्ध में इन सब बातों की भी समालोचना नहीं होगी।

इस प्रबन्ध में प्राकृत सृष्टि की आलोचना की जावेगी। ठीक नहीं कह सकते कि सृष्टि शब्द का अपप्रयोग हो रहा है कि नहीं। जो घटना न जाने कब आरम्भ हुई है तथा कब इसका अन्त होगा

जिसका यह भी पता नहीं है; जो जारी है, मानवचक्षु अतीत को लाँघ कर जहाँ तक देख सकता है अथवा देखने का साहस करता है तथा दूरावस्थित भूतकालिक तमोवृत के भीतर से न देख पड़ने पर भी दीखती है तथा देख कर भी नहीं दीख पड़ती; तब से आज तक जो घटना समान-भाव से जारी है उस घटना को सृष्टि कहने से यदि भाषागत अपराध या त्रुटि न हो तो हम उसी को सृष्टि कह सकते हैं। हम लोग इस समय अपने सन्मुख यह विश्वब्रह्माण्ड-स्वरूप एक महाव्यापार देख रहे हैं। हमारे आत्मप्रसारण के साथ ही साथ, न जाने किस कारण, इसका भी विस्तार क्रमशः बढ़ रहा है। इसकी परिधि क्रमशः टूट रही है। इसके विस्तार की सीमा कहाँ है उसका भी निर्धारण नहीं कर सकते; तथा इसकी जटिलता का ही अन्त कहाँ पर है वह भी ठीक नहीं कर सकते। तथापि इस दुर्भेद्य जटिलता की गाँठ को कुछ सुलझाने पर तथा शृङ्खला के परम्परासूत्र का आविष्कार न करने पर जीवन-यात्रा का निर्वाह नहीं होता। इसीसे जैसे दो एक शृङ्खला का आविष्कार करने के लिए अन्तरिन्द्रिय आप से आप चलायमान होती है, इसी शृङ्खला के आविष्कार करने के लिए, इस ग्रंथि के खोलने के लिए, मनुष्य जाति जिस प्रकृष्ट पद्धति का अनुसरण करती है, उसीका नाम वैज्ञानिक रीति है। सम्पूर्ण मनुष्य-जाति इस वैज्ञानिक रीति का कुछ न कुछ अनुसरण करती है। इसीसे जीवन-यात्रा का निर्वाह होता है।

जो हो, मनुष्य का मन उस शृङ्खला का आविष्कार करना चाहता है तथा उस शृङ्खला के सहारे से अतीत काल के भीतर

से जाकर एक स्थान पर पहुँच कर हार मानने पर लाचार होता है। उसी स्थान में जगत् के आदि की कल्पना करता है, तथा उसके बाद से सृष्टि का वर्णन करना चाहता है। वह आदि में किस प्रकार था, उसके बाद किस प्रकार का हुआ, उसके बाद क्या हुआ—इस प्रकार से होते हुए अब जिस प्रकार का है, इस अवस्था पर पहुँचने की चेष्टा करता है। पहले भी इस प्रकार की चेष्टा हुई थी, तथा अब भी हो रही है और भविष्य में भी होगी। इस चेष्टा की वैज्ञानिकता का क्रम भी है। पूर्व समय में जो चेष्टा की गई थी वह आधुनिक दृष्टि में वैज्ञानिक रीति के साथ संगत नहीं जान पड़ती, और अब जो कुछ चेष्टा हो रही है, यह हो सकता है कि, वह भी विशुद्ध वैज्ञानिकता द्वारा अनुमोदित न हो सकेगी। वह न हो, पर मनुष्य की यह चेष्टा स्वाभाविक संगत है तथा स्वास्थ्य की परिचायक है और इसकी आलोचना में भी लाभ है।

अति प्राचीनकाल से आज पर्य्यन्त प्राकृत सृष्टि का बहुत प्रकार का विवरण मनुष्य के विज्ञानेतिहास में लिखा हुआ है। वह आदि में कैसी थी? वह आदि अर्थात् जिस आदि के पहले हम लोगों की दृष्टि रुक जाती है, जहाँ पहुँच कर हम लोगों की युक्ति-प्रणाली हार मान कर लौट आती है वही आदि। किसी का मत है कि उस समय केवल पानी ही पानी था। किसी ने कहा है कि उस समय केवल आकाश ही आकाश था तथा किसी का मत उस समय आग ही आग होने का है। जल से या अग्नि से या आकाश से इस रूप में अधुना प्रतीयमान इस जगत् की उत्पत्ति हुई है तथा उसीसे यह गुल खिला है।

आधुनिक जन जो कहते हैं उसकी कुछ आलोचना की जा सकती है। आदि में क्या था ? जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, उस समय न तो जल था और न अग्नि। ज्ञात होता है कि उस समय केवल वायु ही वायु था। यह भी हो सकता है कि उस समय आकाश ही आकाश रहा हो। पर आज-कल वे वैज्ञानिक वायु ही से आरम्भ बतलाते हैं।

आधुनिकों में इमानुएल कैन्ट प्रथम है। लुक्रिशियस और दिमक्रितस की बात की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि एक हिसाब से उनकी आधुनिकों में गिनती नहीं। इसी हिसाब से इमानुएल कैन्ट आधुनिक हैं। न्यूटन के पीछे इमानुएल कैन्ट हुए हैं तथा न्यूटन, आधुनिक समय में, जगत्-शृङ्खला की जटिलतम गाँठ के प्रथम तथा सर्वप्रधान खोलनेवाले माने जाते हैं।

कैन्ट ने कहा है कि आदि में न तो सूर्य्य था और न ग्रह-उपग्रह थे। सम्पूर्ण जड़ पदार्थ विस्तृत देश-व्याप्त हो वायु के रूप में था। वायु-रूप में था सही, पर वह वायु हम लोगों के वायु की तरह नहीं था। इसकी अपेक्षा भी सहस्र गुणा हलका था। और लीजिए, उस वायु में सोना भी था, लोहा भी था, चाँदी भी थी इत्यादि। जडाणुओं के बीच परस्पर आकर्षण था, इसी से वायु क्रमशः स्थान स्थान पर जम कर—छोटे बड़े पिंड बन कर—सूर्य्य-ग्रह-उपग्रह-रूप में परिणत हुआ है।

इमानुएल कैंट के समकालीन विलियम हर्शेल हैं। हर्शेल बहुसंख्यक कुहरे के आविष्कर्ता हैं। छायापथ, कुहरे की तरह, साधारण चक्षु द्वारा देख पड़ सकता है; परन्तु यन्त्र-द्वारा वह

अति दूरस्थ संख्यातीत तारकों का समूह जान पड़ता है, पर छायापथ केवल कुहरा ही है तथा धुएँ या कुहरे की तरह है। उम्दा से उम्दा यन्त्र से भी उसका अन्धकार लोप नहीं होता। कुहरे के बीच में आ जाने से तारापुञ्ज नहीं दिखाई पड़ता। हर्शेल ने कहा है, उस कुहरे में जगत्-निर्म्माण का बाकी मसाला कुछ कुछ अब भी कहीं कहीं पर है। उस कुज्झटिका की तरह जो वायवीय पदार्थ कुछ उद्दीप्त अवस्था में देख पड़ता है, वही एक समय में समस्त विश्व-व्याप्त था। कुछ समय में उसी के जम जाने से सूर्य्य ग्रह-उपग्रह इत्यादि की उत्पत्ति हुई है। किसी स्थान पर अच्छी तरह से जम गया है, किसी स्थान पर जम रहा है; तथा कहीं पर अब तक भी जमना आरम्भ नहीं हुआ। विस्तीर्ण नभःप्रदेश की जाँच करने पर उल्लिखित तीनों अवस्थाओं का परिचय मिलता है।

इनके समकालीन लाप्लास हैं। लाप्लास ने कहा है, आरम्भ में वह वायुराशि एक विशाल भँवर की तरह एक केन्द्र के चारों ओर भ्रमण करती थी। माध्याकर्षण द्वारा वह आवर्त्त क्रमशः घनीभूत होने लगा तथा उसकी परिधि का घेरा क्रमशः कम होने लगा। आवर्त्त का घेरा कम होने से भँवर का वेग क्रमशः बढ़ता है। यह एक नियम है। आवर्तनशील वायुमय पिण्ड का मेरु-प्रदेश क्रमशः चपटा हो जाता है और मध्यप्रदेश अर्थात् निरक्ष देश क्रमशः फूल जाने पर अँगूठी के आकार का आख़िर में निकल आता है। उसी अँगूठी के काल में छिन्न भिन्न तथा घनीभूत और पिंडीभूत होने से ग्रहों की सृष्टि होती है तथा वे

बीच वाले सूर्य्य के चारों ओर भ्रमण करते हैं। इसी प्रकार मध्यस्थ सूर्य्य आयतन में कम होने लगता है और उससे एक एक अँगूठी निकल कर ग्रहों की सृष्टि करती है।

यही लाप्लास का विख्यात नीहारिकावाद है। अँगरेज़ी में इसी को "नेबुलर थ्योरी" कहते हैं। इस सृष्टि-व्याख्या में जितना कवित्त्व-रस है, किसी का मत है कि, उतना इसमें युक्तिरस नहीं है। तथापि इस सृष्टि-व्याख्या में एक अपूर्व मोदकर आकर्षण है; जहाँ बड़ी अँधियारी दिखलाई देती थी वहाँ इस व्याख्या के सहारे कुछ कुछ उजाला देख पड़ता है। सौर जगत् के अन्तर्गत सम्पूर्ण ग्रह क्यों पश्चिम से पूर्व की ओर घूमते हैं? सबों का भ्रमण-पथ क्यों एक समतल क्षेत्र में है? प्रायः सभी एक ही ओर अपनी अपनी ध्रुव-रेखा पर क्यों हैं? ग्रहों में जो बड़े हैं साधारणतः उनके उपग्रहों की संख्या अधिक है तथा अभी तक उत्तप्त अवस्था में हैं इत्यादि बहुत सी बातें ऐसी हैं जो पहले प्रहेलिका (बुझौअल) की तरह जान पड़ती थीं। लाप्लास की सृष्टि-व्याख्या को मानने पर उस प्रहेलिका की कुछ कुछ मीमांसा होती है और शनैश्चर की अँगूठी और मङ्गल तथा बृहस्पति के बीच में बहुत से छोटे छोटे ग्रहों के रहने इत्यादि का भी कुछ सङ्गत हेतु जाना जाता है।

तथापि जब बड़े हर्शेल के पुत्र छोटे हर्शेल ने प्रचण्ड शक्तिशाली यन्त्र-प्रयोग द्वारा पिता की आविष्कार की हुई बहुत सी नीहारिका को ताराओं का झुण्ड सिद्ध कर दिया, तब उस मोहकर सृष्टिविवरण के प्रति पण्डितों की श्रद्धा कम हो गई।

स्वनामख्यात दार्शनिक कोमत के गणित द्वारा कुहरे से सौर जगत् की उत्पत्ति बतलाने पर वह गणितविदों के उपहास-भाजन तथा तीव्र व्यंग के भागी हुए। सिद्ध हुआ कि नीहारिका वायवीय पदार्थ नहीं है, दूरस्थ तारापुञ्ज है। दूर रहने के कारण कुज्झटिका की तरह दिखलाई देते हैं, वह जगत् के निर्म्माण का मसाला नहीं है; सुपरिणत, सुगठित, पूर्णावयव केवल बहुत से जगत् का समूह है।

जिस समय ऐसी दशा हो रही थी उस समय किर्कफ़ की आविष्कृत आलोक-विश्लेषण-प्रणाली ने वैज्ञानिकों को एक नई अचिन्तितपूर्व तथा प्रचण्ड शक्ति प्रदान की थी। ज्ञान के इतिहास का वह एक दिन है।

वास्तव में वह दिन था। न्यूटन ने शुभ्र सूर्य्य के प्रकाश के भीतर से लाल, नीली, पीली, नानावर्ण की रश्मियों को निकाला था *। किर्कफ़ के आदेशानुसार वह लाल, पीली विविध रङ्गवाली रश्मियाँ विचित्र बातें करने लगीं। कौन कहाँ पर रहता है, कौन कहाँ से आता है;—किर्कफ़ के आज्ञानुसार एक चित्त होकर, तथा अकपटभाव से मन्त्रमुग्ध की तरह वे रश्मियाँ सब बातें कहने लगीं।

---

* न्यूटन के पहले भी सूर्य्यालोक के विश्लेषण में नीले, लाल इत्यादि वर्णों का विकाश था। परन्तु इन्होंने इस विश्लेषण में जो देखा था वह उनके पहले किसी को ज्ञात नहीं था। न्यूटन के एक बार दृष्टिपात करते ही प्रकृति देवी अपने निगूढ़ रहस्य को अपने आप कह देती थी।

वास्तव में उसी दिन से लाल, नीली, पीली रश्मियाँ अपनी अपनी कहानी कहने लगीं। किसी ने कहा, मैं पान में रहती हूँ और किसी ने कहा कि मैं तम्बाकू में रहती हूँ ! इत्यादि।

जिस रङ्ग की रोशनी जहाँ से आती है उस स्थान के अतिरिक्त और भी ख़बर देने लगी। वह तारा इतने वेग से दूर जा रहा है, यह तारा इतने वेग से पास आ रहा है; वह तारा इस कारण से जलने लगा; वहाँ पर आग लगी; वहाँ पर दोनों टकरा गये; सूर्य्य-मण्डल में वहाँ पर आँधी चल रही है इत्यादि न जाने कितनी बातें बतलाने लगीं।

मालूम हुआ कि सूर्य्य कुछ कुछ जमने लगा है पर उसके मण्डल को आवरण किये हुए अभी तक कुछ वायु है। और उस वायु में लोहा, ताँबा इत्यादि पार्थिव द्रव्यों का भी अस्तित्व है। जो द्रव्य सूर्य्यमण्डल में हैं उनमें से अधिकांश पृथ्वी पर भी हैं; पर प्रकाण्ड सूर्य्यमण्डल में दो-चार ऐसे पदार्थ भी रह सकते हैं जिनके पृथ्वी पर मिलने की सम्भावना नहीं।*

परन्तु फलतः पार्थिव उपकरण ही सूर्य्यमण्डल में है तथा पार्थिव मसाले ही से सूर्य्यमण्डल बना हुआ है। सूर्य्य एक प्रकाण्ड उत्तप्त भयानक पृथ्वी की तरह है। और सब तारे भी ऐसे ही हैं। सभी एक ही वस्तु से बने हुए हैं। किसी में कोई चीज़ ज़्यादा है, तथा किसी में कुछ कम है। कोई ज़्यादा गर्म है कोई कम। यही उनमें भेद है। और कुहरा क्या है? कुहरा

---

* अभी, हाल में ही, प्रमाणित हो गया है कि सूर्यमण्डल में ऐसा कोई अनोखा पदार्थ नहीं जो कि हमारे भूमण्डल में न हो।

वास्तव में कुहरा है। उसमें भी पार्थिव उपकरण विद्यमान हैं। पर अभी तक वे जमे नहीं हैं। अब भी लोहा, ताँबा, जस्ता इत्यादि जो कुछ उसमें हैं वे वायु-रूप में विद्यमान हैं। किसी समय वे भी जम जायँगे। कोई तो उसमें जम रहा है, कोई तारा होने तक पहुँच गया है तथा कोई तारा होने की तैयारी कर रहा है।

आज हेलमहोलज़ नहीं हैं पर उस समय वह उग्र प्रतिभा की तीव्र आलोकवर्त्तिका के सहारे अज्ञान के तिमिर राज्य में घुस रहे थे। उन्होंने दिखला दिया है कि कहाँ से सूर्य्य में इतना तेज आता है। हर वर्ष न जाने कितने तेज का ख़र्च हो रहा है तब भी भण्डार में कमी नहीं है। सामान्य आग रखने के लिए लकड़ी, कोयला तथा तेल की आवश्यकता पड़ती है। एक चिनगारी निकालने के लिए ज़ोर से चकमक पत्थर को लोहे की सलाख़ से रगड़ना पड़ता है। सूर्य्य के इस तापभण्डार का संचय कहाँ से हो रहा है? लकड़ी, कोयला, गन्धक और उद्‌जान से? यदि संपूर्ण सूर्य्यमण्डल दाह्य पदार्थ से बना हुआ भी होता तब भी इतने समय तक वह चुक ही जाता। समस्त ग्रहों और उपग्रहों के संघट्ट से भी इतनी गर्मी नहीं पैदा हो सकती। हेलमहोलज़ इन सब बातों की गणना में बड़े निपुण थे। एक मन भारी एक उल्का-पिण्ड यदि ब्रह्माण्ड के प्रान्तदेश से आकर एकाएक सूर्य्य-मण्डल से टकरावे तो उससे दिवाकर की क्रोधाग्नि के एक डिगरी का कितना हिस्सा उद्दीपित होगा तथा उसकी इस आकस्मिक चञ्चलता के होने में एक सेकंड का कितना समय लगेगा, ऐसे ऐसे हिसाबों का लगाना हेलमहोलज़ के बायें हाथ

का खेल था। तब सूर्य्य में ताप किससे उत्पन्न होता है? केवल एक उपाय है। सूर्य्यदेव अपने विपुल कलेवर को क्रमशः सिकोड़ रहे हैं। इससे वे गर्म भी हो रहे हैं और उसी गर्मी से दूर पर रहनेवाले हम लोगों के इस छोटे भूमण्डल पर पानी बरसता है, हवा चलती है, उमेश चाकू से अँगुली काट डालता है, सुबोध और गोपाल को जो कुछ मिल रहा है, खा रहे हैं, या जो कुछ मिल रहा है, पहन रहे हैं। और दुष्ट गोपाल अपने भाई बहन से निरन्तर झगड़ा करता है।

निदान सूर्य्य क्रमशः अपने कलेवर को सकोड़ रहे हैं तथा क्रमशः ठोस हो रहे हैं। पर अभी तक पृथ्वी की अपेक्षा हलके हैं। परन्तु संकोच की भी एक सीमा है। ज्ञात होता है कि कुबेर के भण्डार का भी क्षय है। सूर्य्यदेव के तापरूपी भण्डार का भी कालक्रम में अन्त होगा। कितने दिन में होगा, उसका भी ऐसे ही लगभग समय बतलाया जा सकता है। पर उस भविष्य की आशङ्का से लेखक या पाठकों को चिन्ता न करनी चाहिए। उसके होने के पहले न जाने कितने पाठकवंश का लोप होगा तथा बहुतों का नरकङ्काल अजायबघर में स्थान प्राप्त करने में समर्थ होगा।

सृष्टिघटना पर बात हो रही थी। एक समय ऐसा था कि सूर्य्य का कलेवर और भी विस्तृत प्रदेश में व्याप्त था। सूर्य्य में अब जो सोना चाँदी इत्यादि वर्त्तमान हैं तथा भविष्य में जो माणिक, मुक्ता इत्यादि उत्पन्न हो सकते हैं वे किसी समय में वायुरूप में जहाँ तहाँ विन्यस्त हो, ज्ञात होता है कि, विशल

वायु के भँवर में विशाल जगत् में व्याप्त हो कर घूमते थे। लाप्लास भी यही अनुमान करते हैं।

सूर्य्य तथा दूसरे तारों को भी यही हालत है। वे भी तो छोटे बड़े सूर्य्य हैं। अतएव अब ब्रह्माण्ड की परिधि जितनी देख पड़ती है उस परिधि के भीतर का सब देश ही नीहारिकाव्याप्त तथा वायुव्याप्त था।

स्थूलतः कुहरे से जगत् की उत्पत्ति इस प्रकार हुई है। इसके अतिरिक्त और दो-चार बातें हैं। उन नई बातों की चर्चा हाल की है।

हर रात को हम लोग साधारण आँखों से दो-चार, और यन्त्र के सहारे दो-चार सौ, तारों का टूटना या उल्कापात देखते हैं। वास्तव में वह तारे का टूटना नहीं है। पृथ्वी के लिए तारों का टूटना बड़ा भारी विषम व्यापार है। पृथ्वी के भाग्य में उस का होना सम्भव नहीं। हाँ, किसी तारे पर पृथ्वी टूट सकती है परन्तु पृथ्वी पर तारे टूट कर नहीं गिर सकते। जो पृथ्वी पर गिरते हैं वे तारे नहीं हैं; वे उल्कापिण्ड—बहुत छोटे पदार्थ—दस रत्ती से लेकर दस मन पर्य्यन्त भारी होते हैं। वे केवल लोहे और मिट्टी से बने हुए होते हैं। इतिहास से पता नहीं लगता कि किसी मनुष्य पर वे गिरे थे कि नहीं। पर वे लोगों के पास गिरे हैं और इकट्ठा किये गये हैं। प्रायः अधिकांश ही उनमें से इतने छोटे हैं कि पृथ्वी के वायु में आते ही, वायु के धक्के तथा रगड़ से, गरम होकर जल जाते हैं। ज़मीन तक पहुँचते ही नहीं और चूर्ण चूर्ण होकर हवा में बहुत समय तक बहते रहते

हैं। और बाज़ बाज़ समय वे पृथ्वी पर गिरते हैं और समुद्र के भीतर भी पाये जाते हैं क्योंकि महासागर से भी ऐसे उल्काचूर्ण इकट्ठे किये गये हैं।

सारांश यह है कि सम्पूर्ण नभोमण्डल में इधर उधर उल्का-पिण्ड छितरे हुए हैं। पृथ्वी चल कर क्रमशः उनमें से कितनों को चूर्ण कर रही है। आकाश में कहीं कहीं इस प्रकार के उल्कापिंडों का भारी झुण्ड इकट्ठा हो कर घूम रहा है। कभी कभी पृथ्वी से ऐसे ऐसे उल्का-झुण्ड का साक्षात् हो जाता है। उस समय उल्कापात न हो कर उल्कावृष्टि होती है। देखने में अग्नि-वृष्टि की तरह जान पड़ता है । सन् १८८५ ईसवी के अगहन (नवम्बर) महीने में बंगाल में जो उल्कावृष्टि हुई थी वह बहुतों को याद होगी। इसी प्रकार उल्कावृष्टि होती है । लाखों उल्का-पिंडों का पृथ्वी पर गिरना और जलते हुए—आग की चिनगारी की तरह—अंतरिक्ष में प्रवेश करना ही उल्कावृष्टि है ।

इनमें एक और रहस्य है। कभी कभी भीमपुच्छ फटकारते हुए धूमकेतु दिखाई देते हैं। कई एक धूमकेतुओं का भ्रमण-पथ उल्का-झुण्ड के भ्रमण-पथ की तरह है। यहाँ तक कि सन् १८८५ के अग-हन महीने में पृथ्वी एक परिचित धूमकेतु के मार्ग से जा रही थी। पर धूमकेतु से साक्षात् न हो कर एक उल्काझुण्ड से भेंट हो गई। लकियर साहब ने देखा है कि धूमकेतु जैसा प्रकाश करता है, म्यूज़ियम में इकट्ठे किये हुए उल्कापिंड को जलाने से भी उसी प्रकार का प्रकाश होता है। और किर्कफ़ के बाद से

प्रकाश ने कभी कोई झूठी बात नहीं कही। अतएव सम्भवतः धूमकेतु उल्कापिण्डों का केवल समूह ज्ञात होता है* ।

उस समय जगत् उल्कापिण्ड से आच्छादित था। वायुकण तथा उल्कापिण्ड में केवल इतना ही भेद है कि वायुकण छोटा होता है तथा उल्कापिण्ड बड़ा। इस समय जिस प्रकार उल्का-पिण्ड, झुण्ड के झुण्ड, समुद्र में जलचर की तरह तथा वायु में धूल के कण की तरह छितरे हुए हैं, उस समय भी उसी प्रकार शून्य देश में फैले हुए थे । समयानुसार उन्होंने जमकर सूर्य्य ग्रह नक्षत्र आदि बड़े बड़े पिण्डों की सृष्टि की है।

जार्ज डारविन ने सिद्ध किया है कि वायवीय पदार्थ के असंख्य क्षुद्र क्षुद्र अणुओं के एकत्र दौड़ने से जिस प्रकार का काम होता है, संख्यातीत उल्का-पिण्डों के भी एकत्र दौड़ने से उसी प्रकार की घटना हो सकती है। गणना करने पर दोनों से एक प्रकार का ही उत्तर निकलता है। अतएव नीहारिका या वायवीय पदार्थ से जगत् की उत्पत्ति जिस प्रकार समझाई जा सकती है उसी प्रकार करोड़ों इधर उधर घूमनेवाले उल्काझुण्डों से भी वह समझाई जा सकती है।

लकियर ने दोनों मतों की कुछ न कुछ पुष्टि की है। उल्का-पिण्ड आकाश में छितरे हुए हैं, एक एक जगह झुण्ड में घूम रहे

---

* अँगरेज़ अध्यापक टेट ने यह बात छेड़ी थी और फ़रासीसी आचार्य्य फे ने इस बात को साबित कर दिया था। उन्होंने यह कहा था कि क्या ऐसी भी कोई बात है कि आदि-काल में सम्पूर्ण ग्रह और नक्षत्र वायु आकार में जगत्व्याप्त थे।

हैं तथा ग्रहगण जिस प्रकार सूर्य्य की परिक्रमा करते हैं वे भी उसी प्रकार सूर्य्य-प्रदक्षिण कर रहे हैं। धूमकेतु, उल्कापिण्ड के समूह होने से परस्पर की रगड़ से, धूमवाष्प उगलता है। सौर जगत् में कई एक धूमकेतु हैं। वे सूर्य्य के चारों ओर ग्रह की तरह घूमते हैं। बहुत से धूमकेतु सौर जगत् के बाहर से, दूसरे तारा-जगत् से, आकर दिखलाई देते हैं और हमारे सूर्य्य की एक बार परिक्रमा कर सर्वदा के लिए चले जाते हैं। और कुछ ऐसे भी हैं कि जो बाहर से हम लोगों के सौर जगत् में प्रवेश करते हैं, परन्तु इसके बाद सौर जगत् के बाहर नहीं जाते। लेवेरियर के अनुमानानुसार सन् १२६ ई० के फ़रवरी या मार्च महीने में इसी प्रकार एक उल्काझुण्ड बाहर से सौर जगत् में आया था। उस समय युरेनस या वरुणग्रह उसके पथ के पास था। वरुणग्रह के आकर्षण से उसकी चाल बदल गई। उसी समय से हम लोगों से उसकी आत्मीयता हुई है। उसी समय से हर ३३ वर्ष में वह उल्काझुण्ड सूर्य्य की परिक्रमा करता है। तेंतीस वर्ष बाद नवम्बर के मध्य में पृथ्वी से उस की भेंट होती है। उस समय पृथ्वी पर उल्कावृष्टि होती है। सन् १८६६ और १६०० ई० के नवम्बर महीने में हम लोगों के साथ उसकी भेंट हुई थी और तब फिर उल्कावृष्टि भी हुई थी। पृथ्वी क्रमशः इस प्रकार उल्कापिण्डों को निगल कर पुष्ट हो रही है। यदि यह मान लिया जाय कि उल्कापुञ्ज की परस्पर रगड़ से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है तो वह रगड़ अब तक हो रही है। अतएव पृथ्वी के बनने का काम अब तक नहीं समाप्त हुआ। पृथ्वी की

तरह दूसरे ग्रहों की भी यही दशा होगी। इस बात का प्रमाण मिलता है कि सूर्य्यमण्डल और बुध ग्रह के बीच में असंख्य उल्कापिण्ड वर्त्तमान हैं। पृथ्वी पर जो अल्प मात्रा से उल्कावृष्टि हो रही है वह सूर्य्य में बड़े वेग से हो रही है। सूर्य्य की गर्मी का कुछ अंश निस्सन्देह इस रगड़ ही से पैदा होता है। यह देखा जाता है कि समय समय पर एक एक नक्षत्र जलने लगता है। सन् १८९१ ई० के फ़रवरी महीने में, उत्तर आकाश में, वृषराशि के उत्तर में अरिगा नामक नक्षत्र के सामने एक तारा अचानक कुछ दिन जल कर बुझ गया था। परस्पर उल्काझुण्ड का रगड़ लगने से ही यह हो सकता है। ठीक कारण जानना असाध्य है। पर हाँ, चारों ओर देख कर विचार तथा अनुमान किया जाता है। जिस ज्योतिःपदार्थ को नीहारिका कह सकते हैं उसमें वायवीय पदार्थ हैं सही, इस बात का प्रमाण नीहारिका का प्रकाश भी है; पर नीहारिका भी विस्तीर्ण देशव्यापी उल्काझुण्ड है। इसकी बड़े बड़े धूमकेतुओं से तुलना हो सकती है। पिण्ड आपस में धक्का दे रहे हैं, टूट रहे हैं, दौड़ रहे हैं, चूर्ण तथा वाष्पीभूत हो रहे हैं तथा समय समय पर जम भी रहे हैं, जम कर क्षुद्र क्षुद्र ग्रह तथा तारा उत्पन्न करते हैं। संपूर्ण ज्योतिष्कों का आकार, अवयव, वर्ण इत्यादि की आलोचना कर उनकी आयु के अनुसार श्रेणीविभाग किया जा सकता है। उल्कापिण्ड सबों का मसाला है अथवा आदि है। उसी मसाले से सब की उत्पत्ति हुई है। कोई तो अभी गर्भ में है, कोई बच्चा है, कोई युवा हो गया है तथा कोई प्रौढ़ और कोई बुड्ढा हो गया है। कोई अभी तक प्रकाशित

नहीं हुआ है तथा किसी ने दीप्तिविकाश करना आरम्भ किया है। कोई पूर्वगौरवान्वित है, कोई निर्वाणोन्मुख है तथा कोई बुझ गया है। लकियर ने आयु के अनुसार ज्योतिष्कगणों का श्रेणी-विभाग किया है।

१—असंख्य उल्कापिण्डों का झुण्ड करोड़ों कोसों के घेरे में है। मसाले का ढेर है, जगत् का गर्भ है। कठिन शीतल दीप्तिहीन पिण्डों के परस्पर संघर्ष से दीप्तिमय वायुवाष्प की उत्पत्ति होती है जिसको नीहारिका कहते हैं। नीहारिका के छोटे टुकड़े का नाम धूमकेतु है। उसके आकार की स्थिरता नहीं है अर्थात् आकार एक नहीं रहता, अङ्ग प्रत्यङ्ग अवयव का निर्देश नहीं है। वे दूर से कुहरे की तरह तथा बादल के टुकड़े की भाँति देख पड़ते हैं। साधारण चक्षु की बात जाने दीजिए, दूरबीन से भी तारा की तरह दिखलाई देते हैं परन्तु फ़ोटोग्राफ़ में नीहा-रिका रूप में पकड़ जाते हैं। कृत्तिकान्तर्गत तारागण इसके उदाहरण स्वरूप हैं।

२—कुछ कुछ जम रहा है। संघट्ट तथा धक्का-मुक्की हो रही है। फल इसका यह होता है कि गर्मी बढ़ रही है। शिशु जगत् आकार में तारा की तरह रक्तवर्ण का होता है। कालपुरुष के अन्तर्गत आर्द्रा नक्षत्र इसका उदाहरण है।

३—कुछ तारे ऐसे हैं जो जम कर घनीभूत होकर उष्ण ज्योतिर्मय तरल पिण्ड हो गये हैं। भीतर तो तरल हैं पर ऊपर शीतल वाष्प का आवरण है। संकुचित हो रहा है, पर उसी से गर्मी पैदा हो रही है तथा गर्मी चारों ओर पहुँच रही है। गर्मी

की आय अधिक है और व्यय कम है, इसी से यह उष्ण से उष्णतर हो रहा है। देखने में वह कुछ अंशों में हमारे सूर्य्य के जैसा है अर्थात् जगत् की किशोरावस्था है। नई स्फूर्ति हो रही है। चांचल्य तथा तारल्य अवस्था में है। उत्तराकाश में अभिजित के कुछ पूर्व छायापथ में जो उजला तारा दिखलाई देता है (आरिदेद), कालपुरुष के दक्षिण-पश्चिम कोणावस्थित रिगेल, और वृषराशिस्थ रोहिणी तारा इसी श्रेणी का एक अपूर्व उदाहरण है।

४—जहाँ उष्णता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है वहाँ भीतर के ज्वलन्त तप्त पिंड का प्रकाश, शीतलतर आवरण, वायुस्तर को छेद कर निकल रहा है। वहाँ दीप्ति की पराकाष्ठा हो गई है। यह जगत् का पूर्ण यौवन-काल है। लुब्धक, अभिजित, उत्तर भाद्रपद (आलफेरात) प्रभृति उज्ज्वल तारों की इसमें गिनती है।

५—यौवन प्रौढ़त्व में परिणत हो गया है, सङ्कोचन हो रहा है, पर आय कम है और व्यय अटता नहीं है, इससे उष्णता का क्रमशः ह्रास हो रहा है। देखने में यह प्रायः तृतीय श्रेणी के प्रकार के जान पड़ते हैं, पर वहाँ दीप्ति बढ़ती है और यहाँ दीप्ति का ह्रास होता है। सम्भवतः हम लोगों का सूर्य्य इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। स्वाती, ब्रह्महृदय, प्रश्वा प्रभृति इसके उदाहरण हैं।

६—कुछ ऐसे तारे हैं जिनका निर्म्माण हुआ ही चाहता है। वे घनीभूत कठिन और शीतल हो गये हैं, और प्रकाश करते हैं या नहीं, ठीक नहीं कहा जा सकता। वार्द्धक्य उपस्थित है। वे बुझना चाहते हैं; अतएव वे दूरबीन से देख भी पड़ते हैं और नहीं भी देख पड़ते।

७—कुछ ऐसे हैं जो बुझ गये हैं तथा शीतल, दीप्तिहीन, अन्धकार, विशाल, कठिन, जीवनहीन जड़ पिण्ड हो गये हैं। यह दूरबीन से नहीं दिखलाई देते। पर गणित की सूक्ष्मतर दृष्टि से पकड़ जाते हैं।

चन्द्र, पृथ्वी, मङ्गल इत्यादि छोटे छोटे पिण्ड एक समय में सम्भवतः बृहत्तर सूर्य्य के अंग थे। बहुत दिन हुए, छोटे होते हुए वे इस शेषोक्त अवस्था को पहुँच गये हैं।

प्रकृति की मूर्त्ति

सांख्यदर्शन में प्रकृति शब्द जिस अर्थ में व्यवहार किया जाता है, यहाँ पर भी प्रकृति का वही अर्थ ग्रहण किया जायगा। सांख्योक्त प्रकृति के अर्थ पर यथेष्ट वाग्वितण्डा कर एक बड़ा भारी प्रबन्ध लिखा जा सकता है, पर हम उस वितण्डाक्षेत्र में न अवतीर्ण हो साधारणतः व्यक्त प्रकृति का जो अर्थ ग्रहण किया जाता है वही अर्थ ग्रहण करेंगे।

यहाँ पर कुछ स्पष्टतया कह देना उचित जान पड़ता है कि वर्त्तमान प्रबन्ध में व्यक्त प्रकृति के स्वरूप की आलोचना की जावेगी। इसमें व्यक्त प्रकृति की आड़ में बैठी हुई अव्यक्त प्रकृति के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की जावेगी। सांख्य-दर्शन इस अव्यक्त प्रकृति के अस्तित्व के विषय में निःसन्देह है। ज्ञात होता है कि वेदान्त-दर्शन से सांख्य का यहाँ पर पूर्ण विरोध है। आजकल अज्ञेय कह कर बात उड़ा देने की पद्धति का प्रायः अवलम्ब किया जाता है।

हम लोगों को जगत् जिस रूप में दिखलाई देता है वह व्यक्त प्रकृति है। जगत् का एक रूप है; हमको छोड़ कर है ऐसा नहीं कहते, क्योंकि हमारे लिए भी एक रूप है यह मानना पड़ेगा। यह रूप गन्ध, स्पर्श, शब्दादिमय है। जिस काग़ज़ पर स्याही से लिख रहे हैं उससे यदि गन्ध स्पर्शादि पाँच विषय निकाल लिये

जावें तो उसमें कुछ बाक़ी नहीं रहेगा। कुछ बाक़ी नहीं बचेगा—ज्ञात होता है यह सम्पूर्णतः ठीक नहीं है; क्योंकि रूप, रस, गन्धादि हम लोगों के वर्त्तमान में प्रत्यक्ष जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष जगत् के अतिरिक्त जगत् का और भी कुछ अंश है। वह भी तो प्रकृति का अंश है। वह इस समय प्रत्यक्ष नहीं है। इस समय जिसको हम छू नहीं सकते हैं, पर एक समय में जिस से हमारी भेंट हुई थी, किसी अतीत काल में जो हमारे प्रत्यक्ष-गोचर हुआ था अथवा भविष्य में हम लोगों को प्रत्यक्ष-गोचर हो सकता है—यह भी हो सकता है कि उससे हम लोगों की कभी भेंट नहीं हुई थी और होगी भी नहीं; पर तुमने देखा था इसलिए उसका अस्तित्व मानना पड़ता है। सम्प्रति अज्ञातपूर्व नेपच्यून ग्रह के स्थान के विषय में लेवेरियर की गणना से एडम्स की गणना की तुलना होती थी। नेपच्यून ग्रह कभी हमारे प्रत्यक्ष गोचर नहीं हुआ है। उसके रूप, रस, गन्ध को हम लोगों ने कभी भोग नहीं किया है। इसकी भी सम्भावना नहीं है कि वह शीघ्र प्रत्यक्षगोचर होगा। पर हम को उसका प्रत्यक्षज्ञान न होने से हम उसको जगत् के बाहर नहीं कह सकते। क्योंकि लोगों ने दूरबीन से उसे देखा है। खिड़की से जो सान्ध्यगगन में पूर्ण-चन्द्र पूर्वाकाश में अभी देखता हूँ उस चन्द्र का भी हमारे प में जिस अर्थ में अस्तित्व है, उसी अर्थ में हमारी पोथी में लिखे हुए नेपच्यून ग्रह का भी हमारे निकट अस्तित्व है। चन्द्र और नेपच्यून दोनों के बीच की दूरी, तथा आकार प्रकार के परस्पर तुलनीय भाव हमारे मन में शनैः शनैः उदित होते हैं। जिस

प्रकार गाल साहब के दूरबीन प्रयोग के पहले उक्त दोनों ज्योतिषियों के मानस चक्षु से नेपच्यून आविर्भूत था, उसी प्रकार सम्प्रति हमारा भी मनश्चक्षु कुछ कुछ उसी ओर दौड़ जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि जगत् में जितना हम लोगों के प्रत्यक्ष है वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द अर्थात् कई एक अनुभूति से—समूह से—बना हुआ है। और प्रत्यक्ष के बाहर जितना है वह वर्तमान की अनुभूति के योग्य नहीं है। उसकी स्मृति, अनुमान, कल्पना, युक्ति, विश्वास या स्वप्न में गणना हो सकता है। स्मृति, अनुमान, युक्ति चाहे जो कुछ कहो, किसी न किसी का अतीत या भविष्य किसी न किसी काल की अनुभूति से उत्पन्न हुआ है। इस विषय में दुविधा न होनी चाहिए। इस प्रकार की दुविधा से काम नहीं चलता। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृति के चित्र के कुछ भाग पर प्रकाश हो रहा है। वही हम लोगों का प्रत्यक्ष अंश है। उस उज्ज्वल दीप्त प्रदेश के चारों ओर क्षीण रोशनी है, कुछ रोशनी और कुछ अंधकार में और भी एक प्रदेश कुछ अपरिस्फुट अवस्था में देख पड़ता है। वह प्रदेश वर्तमान समय में प्रत्यक्ष नहीं है। उसके कुछ भाग का नाम भूत है और कुछ का नाम भविष्यत् है। कुछ तो दूरी पर तथा दर्शनातीत है और कुछ कथन, अनुमान, कल्पना या स्वप्न है एवं कुछ का नाम आशा तथा भय है। सामने टेबिल पर काग़ज़ और स्याही है; दीपाधार, प्रदीप तथा दीपशिखा, असबाब समेत गृहप्राचीर, रसोईघर के धुएँ सहित पाचकमुखनिस्सृत ध्वनि, घर के सामने वृक्ष, तथा ऊपर नीलाकाश में पूर्णचन्द्र, उत्कट

ग्रीष्म और रास्ते के चारों ओर से आगत उत्कटतर कलरव—इत्यादि मिल कर हम लोगों का वर्तमान प्रत्यक्ष जगत् है। इसके अतिरिक्त गाल साहब द्वारा आविष्कृत ग्रह, तथा निकोला तेसला साहब द्वारा आविष्कृत ताड़ित्-तरंग, क्लिफ़ोर्ड साहब का कीड़ा तथा मैक्सवेल का भूत, इत्यादि कितनी बातें हम लोगों के प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अवशिष्ट जगत् है। इनमें कोई भी हमारा वर्तमान शब्दस्पर्शादिमय प्रत्यक्षगोचर अनुभव नहीं है। गोचर और अगोचर दोनों हम लोगों के लिए प्रकृति के हिस्से हैं। अगोचर और गोचर को अलग करनेवाली कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। बिना जाने हुए अगोचर में गोचर समा रहा है और गोचर के बिना जाने अगोचर आकर उसमें प्रवेश कर रहा है। हम लोग प्रकृति का मानचित्र भी नहीं खींच सकते। जब ऐसा करते हैं तब सीमारेखा इतनी बढ़ जाती है कि मानचित्र का प्रसार बहुत बढ़ जाता है और फिर इतनी संकुचित हो जाती है कि हमारे अस्तित्व के भीतर ही आ जाती है। केवल हमारा अस्तित्व एक हिसाब से प्रकृति के इस चित्र का समव्यापी है। हम इस चित्र से लिपटे हुए हैं। यह हमारी संजीवनीबूटी है तथा हलाहल विष भी है। इसी परिधि के भीतर हमारा अस्तित्व सीमाबद्ध है तथा इसके परिमाण में हमारे अस्तित्व का परिमाण है।

हमारी सम्मति में व्यक्त प्रकृति से जो तात्पर्य्य था वह तो हो चुका। अब इस प्रकृति का रूप निर्णय करना वर्तमान प्रबन्ध का उद्देश्य है। पहले देखना चाहिए कि हम को प्रकृति जिस रूप में देख पड़ती है वैसी ही तुम को भी देख पड़ती है कि नहीं।

पाँच मनुष्यों को प्रकृति की मूर्त्ति पाँच प्रकार की देख पड़ती है या और ही किसी प्रकार की ? यदि पाँच प्रकार की देख पड़ती है तो उनमें कुछ सादृश्य है कि नहीं, इत्यादि बातों को देखना चाहिए।

जिसके बीच में रहने से प्रकृति से हमारा सम्बन्ध है तथा प्रकृति को हम छू सकते हैं, उसे मामूली भाषा में इन्द्रिय कहते हैं। प्रकृति की प्रत्यक्ष मूर्त्ति को हमारे संस्पर्श में लाने के लिए हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। प्राचीन दार्शनिकों ने जिनको कर्मेन्द्रियाँ कहा है वे भी इसी श्रेणी में आ सकती हैं कि नहीं, इस विषय पर तर्क हो सकता है। वास्तव में कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानाहरण करने में बहुत सहायता करती हैं। इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं। मुख्यतः ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानाहरण करने के लिए नियत हैं, परन्तु इस ज्ञानाहरण, ज्ञानोपार्जन-कार्य्य में कर्म्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों की प्रधान सहायक हैं; क्योंकि इनके बिना ज्ञान की परिधि अत्यन्त संकीर्ण सीमा में आबद्ध हो जाती। अतएव इन सबको भी इन्द्रियपर्याय में स्थान देने पर कुछ अपराध नहीं हो सकता। इन्द्रिय कहने से शरीर-विशेष का ही अंग समझना चाहिए, इसका कोई सबब नहीं है। मन की उस शक्ति, धर्म्म या वृत्ति को, जिसके द्वारा अमुक ज्ञान उपार्जित होता है और अमुक कर्म सम्पादित होता है, इन्द्रिय कहते हैं। ज्ञात होता है कि दार्शनिक लोगों का इन्द्रिय के इसी अर्थ से तात्पर्य्य है। अँगरेज़ी में इसे (Senses) कहेंगे (Organ of Sensation) नहीं। दार्शनिक लोग ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के अतिरिक्त भी चार अन्तरिन्द्रियों—

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—का उल्लेख करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का केवल प्रत्यक्ष जगत् से सम्बन्ध है। इन अन्तरिन्द्रियों का प्रत्यक्ष जगत् के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष जगत् से भी सम्बन्ध है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ जगत् के कुछ भाग को ढूँढ़ लाती हैं और अन्तरिन्द्रिय उस आहृत अंश से भण्डार-पूर्ण करती है तथा जगत् के बाक़ी भाग की खींचातानी करती है। इन्द्रियों की संख्या और कर्मविभाग का वर्णन करना यहाँ पर उचित नहीं जँचता। इन्द्रियाँ चाहे दश हों चाहे एक, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। यहाँ पर केवल इतना कह देना यथेष्ट होगा कि इन्द्रियाँ जिस पथ पर चलती हैं उसी पथ पर ज्ञान भी चलता है और वह सब प्रकार से इन्द्रियों की अवस्था तथ विकार के वशीभूत है। जिसकी इन्द्रिय की जैसी अवस्था है, प्रकृति या वाह्यजगत् उसको उसी प्रकार का देख पड़ता है। इसका अवलम्बन करने से आलोच्य प्रश्न का उत्तर मिल सकता है।

बहुत कहने की कुछ आवश्यकता नहीं। किन्हीं दो मनुष्यों में इन्द्रियों की अवस्था में एकता नहीं है। बहुधा मनुष्यों में बहुत अन्तर पाया जाता है। अन्धे, लूले, लँगड़े, बहिरे इनकी बात ही अलग है। भले चङ्गे पुरुषों में ही कितना अन्तर पाया जाता है यह बात जानना बड़ा कठिन है कि कौन रोगी है और कौन नीरोग। जो मनुष्य रङ्ग को अच्छी तरह नहीं पहिचान सकते, जिन्हें धुँधला सा देख पड़ता है उनसे यदि साफ़ नज़र वाले मनुष्य की तुलना की जावे तो यह ज्ञात होता है कि प्रकृति कैसी

भिन्न मूर्त्ति से दोनों को दिखलाई देती है। साफ़ नज़र वाले मनुष्य को तीन रङ्ग दिखलाई पड़ते हैं और वह तीनों को थोड़ा ज़्यादा मिला कर तरह तरह के रङ्ग देखता है। पर वह मनुष्य जो रङ्ग नहीं पहचान सकता, दो रङ्ग से अधिक नहीं देख सकता है। साधारणतः वह लाल रङ्ग को नहीं पहचान सकता। उन दो रङ्गों को मिलाने से जितने रङ्ग बन सकते हैं वहीं तक इसकी पहुँच है। पीला और लाल रङ्ग उसको एक ही देख पड़ता है। गाढ़ा लाल उसको हरा दिखलाई देता है और जो हम लोगों को नीलाभ हरित् देख पड़ता है वह उसको सफ़ेद दिखलाई देता है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि हम लोग जितने प्रकार के वर्ण-वैचित्र्य का उपयोग करते हैं, वे लोग उनसे वञ्चित हैं। हम लोगों की तरह विविध सौन्दर्य्य के भोग करने का उनको अधिकार नहीं। जिस रङ्ग को हम लोग निर्म्मल, अकलङ्क शुभ्र वर्ण देखते हैं वह उनको शायद रञ्जित दिखलाई देता हो। संसार-यात्रा में साधारणतः उनको कोई असुविधा न होती हो, पर समय समय पर उनको बड़ी अड़चन पड़ जाती है। प्रसिद्ध रसायनवित् डाल्टन के विषय में दन्तकथा है कि वे बुढ़ापे में एक दिन लाल रङ्ग का अँगरखा पहन कर रास्ते में टहल रहे थे। क्योंकि बुढ़ापे में अक्सर लाल रङ्ग का वस्त्र पहनने का रिवाज नहीं है और उन्होंने उसे काला समझ कर पहन लिया था। बाज़ वक्त ऐसे लोग पकड़ भी जाते हैं। स्टीमर और रेलवे के विस्तार-कल्याण से ऐसे मनुष्य बहुत पकड़े जाते हैं। नहीं मालूम कि ऐसा भी कोई है जो सम्पूर्ण रङ्गों को न

पहचान सकता हो। यदि कोई है तो वह निस्सन्देह बड़ा ही अभागा है। यह बात हम लोगों के मस्तिष्क में नहीं समाती कि एक रङ्ग में रँगे हुए एक ही प्रकार के जगत् में मनुष्य जी सकता है कि नहीं।

तुम्हारे और हमारे इन्द्रिय प्रसार में, परिमाण तथा सूक्ष्मता में, एक नहीं हैं। अतएव प्रकृति की मूर्त्ति जैसी तुम्हें भासती है वैसी हमको नहीं देख पड़ती। इसके अतिरिक्त जिनमें दो-एक इन्द्रियों का अभाव है उनके निकट प्रकृति की मूर्त्ति बिलकुल ही और तरह की होगी। मनुष्य के अतिरिक्त छोटे जीवों में और भी वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। चिड़िया की दृष्टि हम लोगों से तेज़ है। कुत्ते की सूँघने की शक्ति हम लोगों से तीक्ष्ण है। अतएव उनको प्रकृति की मूर्त्ति विशेष स्थल में ज़्यादा देख पड़ती होगी। हम लोग दो आँखों से स्वच्छन्दता तथा सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करते हैं, और संसार में ऐसे भी जीव हैं जिनके बत्तीस बत्तीस आँखें हैं। अनेक कीड़ों से पौराणिक सहस्रलोचन परास्त हो जाते हैं। हम लोग कान से सुनते हैं और आँख से देखते हैं, किन्तु ऐसे जीव भी सुने जाते हैं जो चमड़े से तो देखते और बाल से सुनते हैं। यह आशा नहीं की जाती कि हम लोगों के जगत् से इन विकट जीवों के जगत् की कोई तुलना करने का साहस करेगा।

इसके-बाद प्रकृति की मूर्त्ति कैसी है, इस प्रश्न के उत्तर की कोई आवश्यकता नहीं भी हो सकती। "गजाजिनालम्बि दुकूल-धारि वा" कौन जवाब देगा? हमको जगत् जिस प्रकार दिखलाई

देता है वैसा हमारे लिए है, तथा सहस्रलोचन कीट जैसा देखता है, उसके लिए जगत् वैसा ही है। उसके जगत् में और हमारे जगत् में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। हमारा जो है वह हमारा है और तुम्हारा जो है वह तुम्हारा है। जिस प्रकार हमारी तुम्हारी बनावट में कुछ सादृश्य है और कुछ असादृश्य, उसी प्रकार तुम्हारे जगत् के रूप में और हमारे जगत् के रूप में भी कुछ सादृश्य तथा कुछ भेद है। कौन असल है, इसको कौन कह सकता है।

अध्यापक क्लीफ़ोर्ड ने विद्यार्थिदशा में एक कहानी बनाई थी। यहाँ पर उसका उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। किसी महासमुद्र के अत्यन्त गहरे जल में एक जाति के कुछ जीव रहा करते थे। उस महासमुद्र के ऊपर एक और जलहीन बृहत्तर जगत् है, जहाँ पर पशु-पक्षी निवास करते हैं। इसकी किसी को भी ख़बर न थी। वे लोग सुख और शान्तिपूर्वक अपने जलमय संसार में विचरण किया करते थे। सर्वदा अन्धकार में रहने के कारण वे दिन-रात का भेद नहीं जानते थे। एक दिन की बात है कि एकाएक उनमें से एक गहरे जल से ऊपर तैरने लगा तथा उसने ऊपर, दीप्त सूर्य्यलोक-भासित, एक दूसरे जगत् को देखा। अपने घर जाकर उसने चर्चा की कि हमारे जगत् के अतिरिक्त एक और दूसरा जगत् है जहाँ पर खूब उजाला है और एक बड़ा भारी चिराग़ जल रहा है। सबों ने उसकी बात बिना उज्र के मान ली। कुछ समय के पश्चात् एक और जीव उसी प्रकार ऊपर आ तैरने लगा और उसने रात्रि के पूर्ण आकाश

को देखा। उसने भी जाकर कहा कि और जगत् ज़रूर है जहाँ अँधेरा है पर वहाँ बहुत से चिराग़ टिमटिमा रहे हैं। बहुतों ने उसकी भी बात मानी। पर उसी समय से वह जीवसमाज दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया है और परस्पर लड़ाई-झगड़ा हो ही रहा है। उस समय से शान्ति देवी ने प्रस्थान कर दिया। सर्वत्र ज्ञानवृत्त का फल ऐसा ही विषमय होता है।

हम लोग भी प्रकृति की मूर्त्ति की समस्या पर हाथापाई कर सकते हैं। पर इस प्रकार के विवाद से मीमांसा की संभावना नहीं की जा सकती।

केवल इतना कह सकते हैं कि जिसकी इन्द्रियों की जैसी अवस्था है अथवा जिसकी जैसी अनुभूति है उसके निकट प्रकृति की वैसी ही मूर्त्ति है। इसके कोई माने नहीं होते कि हम जिस प्रकार देखते हैं वैसा ही तुम को देखना होगा। यह बात सत्य है कि हूबहू तुम वैसा नहीं देख सकते। सौभाग्यवशतः कहिए या दुर्भाग्यवशतः कहिए, हमारी इन्द्रियों की संख्या अधिक नहीं है; नहीं तो प्रकृति हम लोगों को संपूर्णतः भिन्न मूर्त्तियों में दृष्टि-गोचर होती। सम्पूर्ण प्राकृत शक्ति हम लोगों में ज्ञानोत्पादन नहीं करती। नहीं कह सकते, यदि ऐसा होता तो क्या होता। ईथर या आकाश में जो लहरें उठती हैं उनमें जिनकी लम्बाई एक इंच का तैंतीस हज़ारवाँ हिस्सा है या इससे भी कम है तथा एक इंच के ६५ हज़ारवें हिस्से से अधिक है, उन्हीं को आँख में लगने से हम लोग देख सकते हैं। उन लहरों के छोटी बड़ी होने के अनु-सार तरह तरह के रङ्ग दिखलाई देते हैं। पर जो लहरें इनसे

कुछ बड़ी हैं उनमें हम लोगों की दृष्टि कुछ काम नहीं कर सकती; केवल हम लोगों को गर्मी मालूम होती है पर उससे भी न जाने कितनी लम्बी दस इंच से लेकर दस-बीस मील की लहरें यदि हम लोगों के शरीर का स्पर्श कर चलो जावें तो हम लोगों को कुछ भी ज्ञात नहीं होता। ऐसी बड़ी बड़ी लहरें न जाने कितनी हम लोगों के शरीर के भीतर चली जा रही हैं जिनकी हम को कुछ भी ख़बर नहीं है; क्योंकि वैसी इन्द्रियाँ हम में नहीं हैं। यदि हम लोगों में वैसी उपयुक्त इन्द्रियाँ होतीं तो न जाने कितने प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करतीं। उस समय न जाने प्रकृति की किस प्रकार की मूर्त्ति होती। ठीक कह नहीं सकते कि दूसरे जीवों की वैसी इन्द्रियाँ हैं या नहीं। यह भी ठीक नहीं कह सकते कि यदि मनुष्य में वैसी इन्द्रियाँ होतीं तो सुविधा होती या अड़चन पड़ती। पर सिर्फ़ इतना ही कहा जा सकता है कि अभी तो मनुष्य की वैसी इन्द्रियाँ नहीं हैं और यदि होतीं तो प्रकृति की मूर्त्ति इससे भिन्न होती।

बात यही तय हुई कि इस बात का जवाब नहीं है कि प्रकृति की कैसी मूर्त्ति है क्योंकि प्रश्न का ठीक अर्थ नहीं होता। हमारे लिए प्रकृति की जैसी मूर्त्ति है वैसी तुम्हारे लिए नहीं है। और कुत्ता, बिल्ली, पक्षी इनके लिए प्रकृति की जैसी मूर्त्ति है उससे बिलकुल भिन्न कीट-पतंगों के लिए है। यदि अकस्मात् हमारे मानसिक भाव में गड़बड़ हो जाय अथवा दो-चार इन्द्रियाँ विकृत या लुप्त हो जायँ या दो-चार नई इन्द्रियाँ आविर्भूत हो जायँ तो उसके साथ ही साथ मैजिक लालटेन की तसवीर की तरह प्रकृति के परिदृश्यमान चित्र में भी परिवर्तन होगा। उस समय यह हो

सकता है कि हम अग्निशिखा के साथ कोर्टशिप करने लगें। वीणा झङ्कार से शरीर में जलन होने लगे, सूर्य्य की रोशनी से कान के परदे फटने लगें या चन्द्रलोक में विहार करने के लिए मन उद्विग्न होने लगे, पर प्रकृति की वैसी मूर्त्ति ठीक नहीं है और अभी जो हम देख रहे हैं यही ठीक है, यह कहने के हम अधिकारी नहीं।

हाँ, एक बात कह सकते हैं। हमारे जगत् में और चींटी के जगत् में बहुत सादृश्य नहीं है। पर तुम्हारे जगत् में और हमारे जगत् में बहुत कुछ सादृश्य है। क्योंकि तुम चींटी नहीं हो, मनुष्य हो। जिस प्रकार शारीरिक और मानसिक बनावट में दोनों एक न होने पर भी हममें और तुममें एक प्रकार का सादृश्य है जिससे दोनों को सजातीय प्राणी कह सकते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे जगत् और हमारे जगत् में सादृश्य के होने से वे सजातीय कहे जा सकते हैं। इस प्रकार का सादृश्य रहने से ही तुमसे हमारा व्यवहार हो रहा है, नहीं तो तुमसे हमारा कुछ सरोकार न होता और समाज की भी सृष्टि न होती।

तुम्हारी और हमारी कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय अनेकांश में एक हैं। प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् (जो ज्ञानेन्द्रिय का विषय है) और जगत् का पूर्व्वोक्त अप्रत्यक्ष भाग (जो अन्तरिन्द्रिय का विषय है) इनके आकार प्रकार में भी हममें तुममें बहुत कुछ सादृश्य है पर प्रत्यक्ष भाग में जितना सादृश्य है उतना अप्रत्यक्ष में नहीं। बाह्य जगत् से तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष से सम्बन्ध निर्णय करना और उसका कर्त्तव्यानुष्ठान करना धर्म्म कहलाता

है, अतएव तुम्हारी हमारी धर्म्म-बुद्धि में कुछ वैषम्य रहने पर भी बहुत कुछ साम्य है।

ऐसा सादृश्य क्यों है? किससे इसकी उत्पत्ति हुई है? इससे हमें और तुम्हें क्या लाभ?—ऐसे प्रश्न स्वयं उत्पन्न होते हैं। इनका यथार्थ उत्तर देने के लिए शायद प्राकृतिक निर्व्वाचन के पास जाना होता है। मनुष्य का मंगल समाज-बद्ध न होने से नहीं होता। पाँच जनों से समाज की उत्पत्ति है। पाँच लोगों के लिए प्रकृति की पाँच प्रकार की मूर्ति है। पाँचों की धर्म्म-बुद्धि भी पाँच प्रकार की होने से आचार-व्यवहार और काम-काज के भाव भिन्न भिन्न हों तो सम्बन्ध-बन्धन नहीं होता। यदि हमारे "क" कहने से तुम "ख" समझो, दूसरी बार कहने से "ङ" समझो और तीसरी बार कहने से "क्ष" समझो तो हम स्वयं ही तुम्हारा त्याग करेंगे। साम्य में सम्मिलन होता है, सम्मिलन से कल्याण होता है, और जिससे कल्याण हो उसी को प्रकाश करना प्राकृतिक निर्वाचन कहलाता है। अतएव हम, तुम, राम, श्याम, इत्यादि सब लोग जगत् को बहुत कुछ एक भाव से देखते हैं, और एक भाव से देखने ही से हम वैसी प्रकृति की मूर्ति देख कर उसी को ठीक जान आत्मप्रसारण करते हैं। इसको प्राकृतिक निर्व्वाचन का फल कह सकते हैं।

वास्तव में साधारण मनुष्यों में परस्पर एक मिलान है। ऐसा होने से ही मनुष्य जाति जीवन-संग्राम में हटी नहीं है। किसी कारण से दो-एक मनुष्य इस पंक्ति से अलग हो जाते हैं तथा साधारण मनुष्यों से दो-एक से नहीं पटती। उनको हम लोग

नहीं पसन्द करते। उनको हम लोग विकारग्रसित कह कर घृणा करते हैं। जो लोग जगत् की भिन्न मूर्ति देखते हैं उनको हम लोग बलात् एक जगह क़ैद कर देते हैं। उस स्थान का नाम पागलख़ाना है। हम लोगों के मतानुसार पागल की ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरेन्द्रिय विकार-युक्त है। जिनका आचरण बाह्य-जगत् से हम लोगों से भिन्न है उनको भी हम लोग एक स्थान पर क़ैद कर देते हैं, जिसको जेलख़ाना कहते हैं। साधारण मनुष्य से पृथक् करने के लिए उनका स्वतन्त्र भाव से नामकरण करते हैं यथा चोर, डाकू, बदमाश, नास्तिक इत्यादि। कभी कभी किसी को जला कर मार भी डालते हैं जैसे जियर्दानो ब्रूनो। मानव-जाति के इतिहास में बहुत से ब्रूनो मिलते हैं।

क्लिफ़ोर्ड साहब का कीड़ा

अभी तक हम लोग अच्छे थे; और कुछ नहीं तो मन को शान्ति तो थी। कभी कभी व्याघ्रादि जन्तु बस्ती में आकर हम लोगों में से किसी को उठा ले जाता था और कभी कभी साँप बिछौने के नीचे से आकर हम लोगों को मृत्युपथ का पथिक कर देता था; परन्तु सभ्यता के प्रभाव से इनका प्रभाव बहुत कम हो गया है। साँप, बाघ का डर कम हो गया है सही, पर एक गिलास पानी मुँह के सामने लाते ही एकाएक यह ध्यान में आने लगता है कि मानों मरे, कोई वैसिलस (कीटाणु) हमारे अज्ञान से देह में प्रवेश कर गया। हम लोगों की इस जाति के वंशविस्तार तथा पराक्रम को देख कर मन में यही होता है कि बड़े आश्चर्य्य का विषय है कि हम लोग अभी तक जीते हैं। हम लोग सगर्व्व चल फिर कर धरापृष्ठ को कँपा रहे हैं। इसको वैसिलस कीटाणुओं की असामान्य सहिष्णुता तथा "ज्वलन्त त्याग-स्वीकार" ही कहना पड़ेगा। ठीक नहीं कह सकते कि मनुष्य की यह सुन्दर देह, जिसका प्रकृति माता ने बड़े यत्न से लालन किया है तथा जिसे बहुत युगों के प्रयत्न से गढ़ पाया है और पुष्ट किया है, उसको सहज में बेक्टीरिया (कीटाणु) द्वारा अंगाराम्ल

(Carbonic acid gas) वायु में परिणत होते देख कर प्रकृति माता रोवेगी या हसेगी। परन्तु हम लोगों को इस आकस्मिक परिवर्तन से कुछ विशेष आनन्द न होगा।

यह भी सहा जा सकता है। पर जिस धन को मनुष्य ने बहुत यत्न से संचय किया है उस जागतिक रहस्य के तथ्य को विपदावस्था में देख कर मन की शान्ति जाती रहती है। जिनको अभी तक सत्य-सनातन जानते आये हैं, तथा जिस सब सत्य का मनुष्य ने कई युगों के पर्य्यवेक्षण से आविष्कार कर पाया है, उस सत्य को जब हम अविनाशी नहीं पाते तब शान्ति क्योंकर रह सकती है? वह मनुष्य की क्षणभंगुर देह के समान नश्वर सिद्ध होता है। मनुष्य ने उन सत्यों का आविष्कार नहीं किया, वरन् उनकी सृष्टि उसने कल्पना से की है और दूसरे सृष्टि-पदार्थ की तरह उनके भी विनाश होने की सम्भावना है। इस दशा में बतलाइए शान्ति देवी किस प्रकार ठहर सकती है?

आकाश असीम है। मनुष्य सर्वदा से इसको सत्य मानता आया है। अँगरेज़ी में जिसको Space कहते हैं उसी की बात कहता हूँ। यहाँ पर आकाश शब्द से शून्यव्यापी ईथर को न समझना चाहिए। किसी ने इस सत्य के विषय में कभी सन्देह नहीं किया था। क्या आकाश की सीमा या परिधि है? यह भी क्या कभी हो सकता है? इतने बड़े भारी महात्मा इमानुयल कैन्ट, जिन्होंने मनुष्य के नाना प्रकार के दृढ़ विश्वासों तथा संस्कारों की जड़ हिला दी है, उनको भी इस संस्कार पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ था। हम लोगों ही ने न जाने कितनी

भाव-गम्भीर वक्तृताएँ आकाश की असीमता के विषय में दी होंगी। दुःख का विषय है कि इस सत्य में भी वैसिलस (कीटाणुविशेष) लग गया है जो क्लिफ़ोर्ड का कीड़ा है।

किसी ने क्लिफ़ोर्ड के कीड़े को कभी देखा नहीं है तथा कोई कभी देखेगा भी नहीं। यहाँ पर दूरबीन ने भी हार मान ली है। इस कीट की मनुष्य-जाति में गिनती नहीं है। अतएव जीवतत्त्व-वेत्ता इसका जाति-कुल-निरूपण नहीं कर सकते। अध्यापक क्लिफ़ोर्ड की कल्पना को इसकी जननी न कह धात्री कह सकते हैं। बड़े भारी हाथी से लेकर छोटे छोटे जीवाणु तक सबके शरीर का दैर्घ्य है, विस्तार है, तथा वेध है परन्तु इस कीट की केवल लम्बाई है। इसका विस्तार तथा वेध नहीं है। ज्यामिति-शास्त्र में विस्तार-भेद-विहीन दैर्घ्यमात्रमय रेखा नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। क्लिफ़ोर्ड के कीट का शरीर केवल एक रेखा है तथा इसके विहार करने की जगह भी उसी प्रकार की है। हम लोग जिस प्रकार दैर्घ्य-विस्तार-वेधमय त्रैगुण जगत् में विचरण करते हैं, उसी प्रकार यह भी दैर्घ्यमात्र पर एक वृत्त रास्ते में टहला करता है। वह वृत्त अथवा उसकी परिधि ही उस कीटाणु का जगत् है। उसी विस्तारहीन जगत् में अपने विस्तारहीन शरीर के द्वारा वह विचरण किया करता है। यह हो सकता है कि उसकी अनुभवशक्ति, बुद्धिशक्ति, इच्छा-शक्ति इत्यादि मानसिक वृत्तियाँ मनुष्य की वृत्तियों की तरह हों, पर उसका सम्पूर्ण ज्ञान उस क्षुद्र वृत्त की परिधि के अन्तर्गत रहता है। उसके वृत्त-पथ को अर्थात् उसके जगत् को छोड़ और

एक दूसरा विशाल जगत् है जहाँ पर सूर्य्य-चन्द्र नियमानुसार घूमते-फिरते हैं; जहाँ पर बेक्टीरिया नामक जीव की वंशवृद्धि के लिए मनुष्य नामक जीव रहता है। उसको इन सब बातों की कुछ ख़बर नहीं है, तथा जानने की कोशिश करने पर भी वह किसी तरह वे बातें नहीं जान सकता। वह किस उपाय से उसका ज्ञान लाभ करेगा? उसका शरीर, इन्द्रिय और मनोवृत्तियाँ ही उसके रेखामय जगत् की तरह हैं, बाहरी विशाल जगत् के विषय में ज्ञान उत्पन्न करनेवाली उसकी कोई उपयुक्त इन्द्रिय ही नहीं है तथा ऐसी इन्द्रिय की उसको कुछ आवश्यकता भी नहीं, पर वह अपने जगत् का स्वामी है। वहाँ पर वह आनन्द पूर्वक इधर उधर विचरण किया करता है। सजातीय कीट के साथ आहार-विहार करता है तथा ज़िन्दगी भर विचरण कर अपनी संकीर्ण सीमाबद्ध विहारभूमि का अन्त न पाकर आख़िर में गम्भीर भाव से यही तय करता है कि उसके जगत् की सीमा नहीं है।

क्लिफ़ोर्ड के कीट के इस स्थिर सिद्धान्त पर हम लोगों को हँसने का कोई अधिकार नहीं है। पर हँसने के साथ ही हम लोगों को शिक्षा भी मिल सकती है। आरब्योपन्यास का विख्यात पिशाच बुद्धि में चाहे जैसा रहा हो, पर वह था बड़ा क्षमता-शाली। क्योंकि वह अपने बड़े भारी शरीर को इच्छा करते ही छोटा कर घड़े के भीतर कर लेता था। पर वह भी अपने दैर्घ्य-विस्तार-वेधयुक्त शरीर को केवल दैर्घ्य ही के भीतर कर यूक्लिड की रेखा के समान बना सकता था कि नहीं, इस विषय में संदेह है। हम लोगों की बात ही जाने दीजिए। जो हो,

हम लोग चाहे रेखा में विश्वास न कर सकें, पर रेखा की कल्पना कर सकते हैं। केवल रेखा की नहीं, दैर्घ्य-विस्तार दो गुणयुक्त अर्थात् द्विधा विस्तृत की—जिस प्रकार किसी वस्तु के ऊपर या नीचे के भाग की—भी कल्पना कर सकते हैं। यूक्लिड की कृपा से स्कूल के लड़के भी इस बात में निपुण हैं। दैर्घ्य, विस्तार, वेध, इन तीन गुणयुक्त अर्थात् त्रिधा विस्तृत देश की कल्पना का प्रयोजन नहीं है, उस देश में तो हम लोग रहते ही हैं। हम लोग जिसको आकाश कहते हैं, जिस आकाश के कुछ कुछ अंश में हम लोगों का शरीर व्याप्त है तथा हम लोगों के ज्ञान-गोचर पदार्थ रहते हैं, वह भी इन तीन गुणों से युक्त अर्थात् त्रिधा-विस्तृत देश है। पर इन तीन गुणों के अतिरिक्त चौथा गुण हम लोग नहीं जानते। तीन ओर फैले हुए के सिवा, चतुर्धा-विस्तृत देश की हम लोग कल्पना ही कर सकते हैं! दैर्घ्यमय रेखा की कल्पना कर सकते हैं तथा दैर्घ्यविस्तारमय तल की भी कल्पना की जा सकती है और दैर्घ्यविस्तारमय देश की बात ही जाने दीजिए क्योंकि वह तो हम लोगों की निवास-भूमि ही है। पर दैर्घ्य-विस्तार-वेध के सिवा कोई देश चौथा गुणसम्पन्न हो सकता है,—हम लोगों के जगत् से एक और चौथा प्रशस्ततर जगत् हो सकता है, उसके विषय में हम लोग कुछ नहीं जानते तथा वह हम लोगों की कल्पना में भी नहीं आ सकता। वह हम लोगों की कल्पना में नहीं आता सही, पर इस प्रकार का जगत् नहीं है इसको कौन साहस कर कह सकता है? क्लिफ़ोर्ड का कीड़ा भी तो हम लोगों के अस्तित्व तथा हमारे

जगत् के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता। जो उसकी ज्ञानसीमा के अन्तर्गत है उसी की वह कल्पना कर सकता है। जो उसकी ज्ञानसीमा के बाहर है वह उसकी कल्पना में नहीं आ सकता। कौन जानता है कि हमारी भी अवस्था क्लिफ़ोर्ड के कीड़े की तरह नहीं है? कौन कह सकता है कि हमारा जगत् भिन्न-धर्म्मात्मक, भिन्न-नियमानुसार चालित, भिन्न-जीवाध्युषित, जगत् के अन्तर्गत नहीं है? कौन कह सकता है कि हम लोग भी क्लिफ़ोर्ड के कीड़े की तरह अपने संकीर्ण, सीमाबद्ध, परिधि-युक्त, क्षुद्र जगत् में निवास नहीं कर रहे हैं तथा अपनी सीमा-बद्ध मनोवृत्ति के प्रकाशस्थल एवं सीमाबद्ध ज्ञान के विषय ससीम जगत् को असीम समझ कर फूले नहीं समाते रहे हैं!

क्लिफ़ोर्ड के कीड़े की बात याद आने पर यूक्लिड की स्वयं-सिद्ध प्रतिज्ञा पर घोर संशय होने लगता है। ये स्वयं-सिद्ध प्रतिज्ञायें हम लोगों के ज्ञानायत्त आकाश के धर्म्म-सम्बन्ध में हम लोगों का माना हुआ सिद्धान्त हैं। अपने आकाश को जितना हम लोग देख सकते हैं, इस आकाश का जितना विस्तार हमारे ज्ञान में आता है, उतने ही में हम लोग इन धर्म्मों को देखते हैं। हम लोग जितने दिन से आलोचना कर रहे हैं तथा भूतकाल की ओर आँख फिरा कर जितनी दूर देख सकते हैं उतने में इन धर्म्मों का कोई परिवर्तन नहीं देख पड़ता, इतना ही हम लोग साहस करके कह सकते हैं। आकाश इस धर्म्म से युक्त है अर्थात् सर्वदा से यह धर्म्म अपरिवर्त्तित भाव से विद्यमान है—इतना कहना भी मनुष्य की प्रगल्भता है।

रूस के पण्डित लवाचुस्की ने यूक्लिड के स्वयंसिद्ध सिद्धान्त का वर्जन कर नवीन ज्यामितिशास्त्र की रचना की थी। जर्म्मनी के राइमैन और हेलमहोलज्ज ने इसके बाद संशय-वाद का प्रचार किया था, तथा लन्दन-विश्वविद्यालय के गणिताध्यापक क्लिफ़ोर्ड ने इँगलैण्ड में इस मत का विस्तार किया था। क्लिफ़ोर्ड साहब की अकाल-मृत्यु न होती तो हम लोग और भी नई नई बातें सुनते।

प्राचीन ज्योतिष

एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना होने पर यूरोपियनों ने हम लोगों के प्राचीन ज्योतिष की अलोचना आरम्भ की थी। हम लोग अपने पूर्व-पुरुषों के गुणगौरव में इतने मुग्ध हैं, कि उस समय क्या था क्या नहीं था इसके अनुसन्धान करने की आवश्यकता नहीं समझते। पर अँगरेज़ लेखकों के अनुवाद से दो-चार बातें एकत्र कर उसी पर डींग मारते हुए फूले अंग नहीं समाते। कौन कहता है कि हमारे यहाँ कोपर-निकस नहीं था! कौन कहता है कि हमारे यहाँ न्यूटन नहीं था!—केवल यही कहना हम लोग जानते हैं। और तो कुछ होने का नहीं।

अभी तक यूरोप में ज्योतिषशास्त्र के विषय में जो कुछ आविष्कृत हुआ है या अब से कल्पान्त तक जहाँ कहीं जो कुछ आविष्कार होगा तथा प्रचारित होगा वह सब हमारे शास्त्रों में कहीं न कहीं निगूढ़ भाव में निहित है—यह एक प्रकार से हम लोगों का साधारणतः मत है। इसके साथ ही इसको भी एक प्रकार का सिद्धान्त समझना चाहिए कि यूरोप या और कहीं अभी तक क्या क्या आविष्कार हुए हैं या होंगे तथा हम लोगों के प्राचीन शास्त्र की किस अँधेरी गुहा में क्या पड़ा हुआ

है, इस विषय में बुद्धि को कष्ट देना हम लोगों ने सीखा ही नहीं। अतएव हम लोगों का प्राचीन ज्योतिष कहाँ तक अग्रसर हुआ था इस विषय में दो-चार बातें कहने के पहले पाठकों से क्षमा-प्रार्थना करना आवश्यक जान पड़ता है। फिर भी प्राचीन-काल में अर्जित ज्ञान के परिमाण तथा प्राचीनकाल के ज्ञान-पन्था से हम लोगों के आधुनिक ज्ञान के परिमाण तथा ज्ञान-पन्था की तुलना करने पर केवल अधःपतन की शोचनीय अवस्था का परिचय मिलता है तथा दीर्घश्वास के साथ अपने आप मुँह से निकल पड़ता है—"कहाँ है वह दिन।"

प्राचीनकाल में मनुष्य किस वैज्ञानिक प्रणाली से ज्योतिष्क-गणों की स्थिति-गति का पर्य्यवेक्षण करते थे, किस प्रकार Hypothesis निर्म्माण कर उनकी स्थिति-गति के समझने की चेष्टा करते थे, किस प्रकार के उत्कट गणित के द्वारा उसकी स्थिति-गति की गणना करते थे, और किस प्रकार से गणना सहित पर्य्यवेक्षित फल का समन्वय करते थे—इन सब बातों की आलोचना इस प्रबन्ध में नहीं की जायगी। उस समय के ज्योतिषशास्त्र की दो-चार स्थूल बातों का उल्लेख करना ही इस प्रबन्ध का उद्देश्य है।

कहना नहीं होगा कि पृथ्वी का आकार तथा आयतन निरू-पण करना ही ज्योतिष-शास्त्र की पहली सीढ़ी है।

पृथ्वी के त्रिकोणाकृतित्व के सम्बन्ध में बड़े बड़े लोगों की उक्ति के रहने पर भी ज्योतिष-शास्त्र ने अति प्राचीन काल में इसका गोलत्व सिद्ध किया था। इसका गोलत्व सिद्ध करने में

जिन युक्तियों का इस समय प्रयोग किया जाता है उन्हीं युक्तियों का प्रयोग प्राचीन काल में हुआ करता था। यथा—पृथ्वी के गोल न होने पर दृष्टिप्रतिषेधक क्षितिज रेखा Horizon सर्वत्र गोलाकार न होती, उत्तर की ओर जाने पर उत्तरस्थ ताराओं की क्रमशः उन्नति न देख पड़ती तथा चन्द्रग्रहण में पृथ्वी की छाया गोल न देख पड़ती, इत्यादि इत्यादि।

भूगोल पृष्ठ को प्राचीन ज्योतिषियों ने विविध कल्पित रेखाओं से विभक्त किया था। अवस्थिति, दूरत्वनिर्देश, उदयास्त-गमन-काल का अन्तर, दिन-रात का घटना-बढ़ना इत्यादि समझने के लिए इस प्रकार की रेखाओं की कल्पना अभी आवश्यक होती है। उस समय भी इसकी आवश्यकता होती थी। भूगोल में सुमेरु और कुमेरु नामक दो बिन्दु नियत कर दोनों स्थानों से बराबर दूरी की परिधि को निरक्षवृत्त कहते थे। किसी ख़ास जगह से उत्तर-दक्षिणवर्ती सुमेरु-कुमेरु-भेदी एक वृत्त को खींच कर मध्यरेखा कहते थे। निरक्षवृत्त के उत्तर-दक्षिण को अक्षांश और मध्यरेखा से पूर्व और पश्चिम को देशान्त कहते थे। इस तरह दोनों प्रकार की दूरी नियत कर भूपृष्ठ के भिन्न भिन्न भागों के अवस्थान का पता लगाते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस समय भी उसी प्रकार से भूपृष्ठ के भिन्न भिन्न स्थानों के अवस्थान का पता लगाया जाता है।

अब हम लोग जानते हैं कि भूमण्डल पूरा गोल नहीं है। निरक्ष प्रदेश के पास कुछ फूला हुआ है तथा मेरुप्रदेश के पास कुछ चपटा है। इस स्फीत का परिमाण-निर्धारण करने के लिए

साधारणतः दो उपाय हैं। पहला—निरक्षप्रदेश के पास के दस मील, या दस योजन उत्तर की ओर चलने से ध्रुव तारा जितना उन्नत होता है, मेरुप्रदेश के पास दस मील या दस योजन उत्तर की ओर चलने से ध्रुव तारा ठीक उतना उन्नत नहीं होता। पृथ्वी यदि बिलकुल गोल होती तो दोनों जगह समान उन्नति दृष्टि-गोचर होती। द्वितीयतः—निरक्षप्रदेश में पेण्डुलम या परिदोलक यन्त्र एक मिनिट में जितनी बार हिलता है, मेरुप्रदेश में पेण्डुलम उससे कुछ ज़्यादा हिलता है। उस समय पेण्डुलम का व्यवहार नहीं होता था तथा स्वदेश छोड़ कर विदेश में जाकर ध्रुवतारा की उन्नति देखने का भी सुभीता नहीं था। अतएव उस समय यही ग्रहण किया जाता था कि भूमण्डल ठीक वर्तुलाकार है, पर उससे कुछ विशेष हानि-लाभ नहीं होता क्योंकि वे प्राचीन काल की बातें हैं और ये आधुनिक।

पृथ्वी के किसी स्थान पर खड़े होकर उत्तर दिशा का ठीक पता लगाना बड़ी कठिन समस्या है। ठीक दोपहर के समय पृथ्वी पर एक लाठी खड़ी करने पर उसकी छाया देखने से इस दिशा का पता लग सकता है। पर ठीक दोपहर का पता लगना ही बड़ा कठिन है। इसका निरूपण एक कौशल द्वारा प्राचीन काल में हुआ करता था। 'अम्बुसंशुद्धि' (अर्थात् जिसकी पीठ अम्बुपृष्ठ के समानान्तरण है) शिला पर शंकु के खड़ा करने पर पूर्वाह्न में किसी समय छायानुसार एक रेखा खींचो। अपराह्न में जिस समय छाया फिर ठीक समान-दैर्घ्ययुक्त हो उस समय भी छायानुसार एक रेखा खींचो। इन दोनों रेखाओं

से बने हुए कोण के, ज्यामिति-शास्त्रानुसार, दो खण्ड करने पर मध्याह्न काल की छाया-रेखा मिलेगी। यहाँ पर यह कहना आवश्यक होगा कि इस प्रकार उत्तर-दक्षिण के निर्णय करने में कुछ ग़लती हो जाती है। इसका प्रधान कारण पूर्वाह्न और अपराह्न के बीच सूर्य्य की गति का व्यत्यय है। अतएव आज-कल उत्तर दिशा का निर्णय करने में इससे भी सूक्ष्मतर उपाय का अवलम्बन किया जाता है। ख़ैर जो हो, उपर्युक्त "अम्बुसंशुद्धि" की गभीरतार्थकता का विचार करने पर प्राचीन काल के लिए गर्म श्वास आप से आप निकलने लगती है।

भूपृष्ठ पर किसी स्थल का अवस्थान निर्देश करने के लिए उस स्थान के अक्षांश (Latitude) को स्थिर करने की आवश्यकता होती है। प्रधानतः दो प्रकार से यह स्थिर किया जाता है। प्रथम—क्षितिज रेखा से ध्रुवतारा की उन्नति का निर्द्धारण करना, द्वितीय—जिस दिन दिन-रात बराबर होते हैं उस दिन, दोपहर में नभोमण्डल में ऊर्ध्वस्वस्तिक बिन्दु (Zenith) से अर्थात् जो बिन्दु ठीक सिर के ऊपर है उस बिन्दु से सूर्य्यमण्डल की अवनति का निरूपण करना। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भूगोल के निरक्षप्रदेश के फूले हुए हिस्से को यदि निकाल डाला जाय तो अक्षांशनिरूपण करने की यह प्रकृष्ट पद्धति है। आज-कल भी हम लोग विद्यालय के लड़कों को अक्षांश निरूपण करने का यही उपाय सिखलाते हैं। प्रयोग के समय सम्पूर्ण प्रकार की सावधानता तथा संशोधन की आवश्यकता होती है, इसका उल्लेख करना निष्प्रयोजन है।

ऊर्ध्वस्वस्तिक से सूर्य्य की अवनति चक्र द्वारा सहज में निकाली जाती थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में एक और उपाय करते थे। निर्दिष्ट दैर्घ्ययुक्त सलाई को गाड़ कर उसकी छाया के परिमाणानुसार सूर्य्य-अवनति की गणना की जाती थी *।

इसके बाद पृथ्वी का आयतन है। अक्षांश निरूपण होने पर पृथ्वी की परिधि कितने मील या कितने योजन है, इसके जानने में विशेष कठिनता नहीं होती। इस समय जिस प्रकार से इसका पता लगाते हैं, प्राचीन काल में भी उसी पद्धति का प्रयोग किया जाता था। कल्पना करो कि कानपुर से लखनऊ ठीक उत्तर की ओर है। लखनऊ के अक्षांश से कानपूर के अक्षांश को घटाने से दोनों के अक्षांश का अन्तर ज्ञात हो जाता है; इसके पश्चात् लखनऊ से कानपुर कितनी दूरी पर है, यह माप कर देखना होगा। अतएव इतने अंश अक्षान्तर होने पर इतने मील का अन्तर या इतनी दूरी होती है, यह ज्ञात होजाने से पृथ्वी की परिधि की

---

* इस प्रकार की गणना त्रिकोणमिति में है। ज्योतिष्क-गणना के लिए उस समय त्रिकोणमिति की सृष्टि तथा चर्चा की आवश्यकता हुई थी। उक्त गणना में एक समकोणी त्रिभुज के भुज और कोटि के परिमाण से कोटि के सामने वाले कोण के परिमाण की गणना करनी पड़ती है। आज-कल ऐसे स्थान पर दो रेखाओं के परिमाण से एक कोण का परिमाण निर्द्धारण करने की आवश्यकता पड़ने पर उच्चगणितसम्मत विश्लेषण क्रिया के द्वारा जितना चाहें उतना सूक्ष्म फल निकाल सकते हैं। भास्करप्रणीत प्राचीन ग्रन्थ में कोण-गणना करने का जो हिसाब है, उसके अनुसार गणना करने पर विशेष भूल होने की सम्भावना नहीं।

लम्बाई जानी जा सकती है। पृथ्वी की परिधि ३६० अंशों में विभक्त है। अतएव त्रैराशिक द्वारा पृथ्वी की परिधि का पता लग सकता है। यदि एक अक्षांश में इतना होता है तो ३६० अक्षांश में कितना होगा? प्राचीन काल में इसी प्रकार की गणना का प्रयोग पृथ्वी की परिधि के निकालने में किया जाता था। आर्य्यभट्ट की गणना के अनुसार पृथ्वी की परिधि ३,३०० योजन है। चार कोस का एक योजन होता है और दस कोस में उन्नीस मील होते हैं। इस हिसाब से आर्य्यभट्ट के मतानुसार पृथ्वी की परिधि २५,०८५ मील है। आधुनिक गणना के अनुसार पृथ्वी की परिधि २४,९०० मील है। परिधि से व्यास और पृष्ठ का क्षेत्रफल निकाला जा सकता है। भास्कराचार्य्य कहते हैं कि व्यास को परिधि से गुणा करने पर क्षेत्रफल निकल आता है। इस हिसाब में कुछ ग़लती नहीं है। परिधि के साथ व्यास का सम्बन्ध गणितज्ञों ने बड़े कष्ट से निकाला है। आज-कल मनमानी सूक्ष्मता सहित यह सम्बन्ध निकाला जा सकता है। मामूली तौर पर दोनों का सम्बन्ध २२ : ७ हो सकता है। आर्य्यभट्ट का भी यही मत है। किसी किसी ने और भी सूक्ष्म हिसाब से परिधि के वर्ग को व्यास के वर्ग का दशगुणा माना है। भास्कराचार्य्य ने और भी सूक्ष्म गणना की है ३९२७ : १२५०।

निरक्षप्रदेश के उत्तर या दक्षिण किसी स्थान में निरक्षवृत्त के समान्तराल एक वृत्त भूपृष्ठ पर खींचने से उसको स्फुट परिधि-वृत्त कहते हैं। अँगरेज़ी में इसे Parallel of Latitudes कहते हैं। यह वृत्त निरक्षवृत्त से जितनी अधिक दूरी पर लिया जायगा

उतना ही उसका परिमाण छोटा होगा। कलकत्ते का अक्षांश, अर्थात् कलकत्ता निरक्षवृत्तसे कितने अंश उत्तर में है, यह—मालूम रहने से ही कलकत्ते का स्फुट परिधिवृत्त निकाला जा सकता है। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि इस प्रकार का स्फुट परिधि का निकालना प्राचीन समय में लोगों को ज्ञात था। कलकत्ते के कितने कोस पूर्व कितने दण्ड पहले सूर्य्योदय होगा, इसका निर्धारण करने के लिए स्फुट परिधि के परिमाण की आवश्यकता होती है।

अँगरेज़ तो ग्रीनविच नगर से भूगोल की मध्यरेखा की कल्पना करते हैं और उस मध्यरेखा के पूर्व और पश्चिम दूसरे स्थान का देशान्तर (Longitude) नापते हैं। प्राचीन समय में उज्जयिनी नगरी से मध्यरेखा मानी जाती थी और उसी स्थान से दूसरे स्थान का देशान्तर निकालते थे।

इसके पश्चात् पृथ्वी की गति को लीजिए। आज-कल स्कूल के लड़कों से पूछने पर वे पृथ्वी की दैनिक और वार्षिक गति फ़ौरन बतला देते हैं। पर इसके विषय में प्रमाण पूछने पर उत्तर मिलना कुछ कठिन हो जाता है। हम लोगों को यह ज्ञात होता है कि मानो नक्षत्रसमुदाय पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं, तथा पृथ्वी उसका केन्द्र है। जिस प्रकार अर्वाचीन समय में पृथ्वी घूमती है, नक्षत्र स्थिर हैं या नक्षत्र घूम रहे हैं और पृथ्वी स्थिर है, इस विषय में वाग्वितण्डा होता रहता है, इसी प्रकार की घटना प्राचीन काल में भी हुई थी। छोटी सी पृथ्वी जब स्मरण-मात्र से चलती है तब एक प्रकाण्ड नक्षत्रचक्र के घुमाने की कोई

आवश्यकता नहीं। इस प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। वास्तव में एक प्रकार से यह युक्ति अकिञ्चित्कर है। इसमें मीमांसा का लेशमात्र नहीं। पृथ्वी की आह्निक गति के विषय में और भी प्रमाण हैं। फ़्को साहब का बनाया हुआ पेण्डुलम उनमें से एक प्रमाण है। परन्तु प्राचीनकाल में, जब कि गति-विज्ञान का अंकुर न उगा था उस समय, इस प्रमाण के प्रयोग की आवश्यकता न थी। आर्य्यभट्ट की तीक्ष्ण दृष्टि को ज्ञात था कि पृथ्वी घूमती है तथा नक्षत्रचक्र का घूमना स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु आर्य्यभट्ट का यह मत स्थिर नहीं रहा। पश्चात् के पण्डितों ने इस विषय का व्यवस्था-पत्र नहीं दिया। पर आर्य्यभट्ट के मत को अस्वीकार करने पर भी लोगों को उस समय विशेष क्षति या असुविधा नहीं हुई थी। आर्य्यभट्ट के विरुद्ध जिन युक्तियों की सृष्टि हुई थी, वे आज-कल बालकोचित ज्ञात होती हैं और उनके सुनने में हँसी आने लगती है। पर हाँ, गैलिलियो और न्यूटन के पहले उन युक्तियों का ठीक उत्तर मिलने की सम्भावना नहीं थी।

चाहे पृथ्वी घूमती हो या नक्षत्रचक्र ही घूमते हों, इस आवर्तन से सूर्य्य और ग्रह-नक्षत्रादि का प्रात्यहिक उदयास्त होता है तथा सूर्य्य का उदय और अस्त होने से दिन-रात होता है। देश-विदेश में देशान्तर के अनुसार, अर्थात् मध्यरेखा की दूरी के अनुसार, उदयकाल में जो घटा-बढ़ी होती है उसकी सहज में गणना होती थी, इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं ज्ञात होती।

तारों का भी उदय-अस्त होता है तथा सूर्य्य की भी उदयास्त

गति है । पर इन ज्योतिष्कों में उदयास्त-गति के विषय में बड़ा अन्तर है। सम्पूर्ण तारे ठीक एक नियमित समय में एक चक्कर लगाते हैं; पर सूर्य्य के चक्कर लगाने में कुछ विलम्ब होता है। यदि हम आज किसी तारे को सूर्य्य के साथ उदय होते देखें तो कल हम देखेंगे कि यह तारा पहले उदय होगा और थोड़ी देर बाद सूर्य्य उदय होगा। निदान इसी प्रकार सूर्य्य प्रतिदिन कुछ न कुछ पीछे होते होते साल भर में नक्षत्रचक्र के पीछे हो जाता है। आज जिस तारे के निकट सूर्य्य को देखते हैं उस तारे से सूर्य्य कुछ कुछ पूर्व की ओर हट कर फिर एक वर्ष के बाद सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र घूम कर ठीक उस तारे के पास आ जाता है और दूसरे वर्ष में फिर उसी तरह पीछे हटने लगता है। इसके परिणाम में हम लोगों को ज्ञात होता है कि मानों नक्षत्रचक्र प्रतिदिन पूर्व्व से पश्चिम घूम रहा है और सूर्य्य भी उसी के साथ घूम रहा है। पर सूर्य्य नक्षत्र के साथ एक चाल से न जाकर कुछ कुछ पूर्व्व की ओर हट रहा है। मानों एक गाड़ी का पहिया बड़े वेग से घूम रहा हो और उसकी परिधि पर चींटी बैठ कर दूसरी ओर धीरे धीरे चल रही हो।

सूर्य्य की गति भी इसी प्रकार की है। बुध शुक्रादि ग्रहों की गति में और भी गोलमाल है। यह भी प्रतिदिन नक्षत्रचक्र के साथ घूमते हैं और सूर्य्य की तरह क्रमशः पीछे हो जाते हैं। सूर्य्य पीछे हो जाता है सही, पर हर रोज़ ठीक एक नियम से पीछे हटता है। ग्रहों में यह बात नहीं है। इनमें कोई तो बहुत ही पीछे रह जाता है और कोई धीरे धीरे पीछे हटता है। बुध और शुक्र खूब

तेज़ चलते हैं। बृहस्पति और शनैश्चर ख़ूब धीरे धीरे चलते हैं। सूर्य्य को सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र के घूमने में एक वर्ष लगता है पर बृहस्पति बारह वर्ष में नक्षत्रचक्र की परिक्रमा कर लेता है। सिर्फ़ इतना ही नहीं, प्रत्युत नक्षत्रचक्र में शुक्र और बुध स्वतन्त्रतापूर्वक चलते हैं सही, पर सूर्य्य को छोड़ कर पूर्व या पश्चिम बहुत दूर नहीं चले जाते। किसी प्रकार से मानों वे सूर्य्य में बँधे हुए हैं। और ग्रहों में ऐसी बात नहीं है। वे पूर्व्व की ओर हटते हटते दो-चार दिन के लिए फिर पश्चिम की ओर अग्रसर होते हैं। देखा जाता है कि जो ठीक पूर्व्व की ओर चल रहा था वह चलते चलते अकस्मात् कुछ समय के लिए पश्चिम की ओर चलने लगा।

अतएव ग्रहों की गति अति जटिल और विचित्र है। ग्रहों की अवस्थिति तथा गतिगणना ही यदि ज्योतिषशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है तो इस जटिलता को विच्छिन्न कर परिणाम निकालने पर ही ज्योतिषविद्या की सार्थकता निर्भर करती है।

साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व्व सहसा एक दिन इस जटिलता का आवरण दूर हो गया, यह दुर्गम गहन पथ परिष्कृत हो गया तथा अन्धकार प्रदेश में उजाला हो गया। जिस मनुष्य ने शुभ आलोकवर्त्तिका हाथ में लेकर इस घोर अन्धकार का नाश किया है, वही चिरजीवी है। इस महात्मा का नाम निकोलस कोपर्निकस है।

यदि मान लिया जाय कि नक्षत्रचक्र स्थिर है एवं सूर्य्य स्थिर है तथा बुध, शुक्र, पृथ्वी और मङ्गलादि ग्रह सूर्य्य को बीच में

कर के नियमित समय में, निर्दिष्ट कक्षा में, भ्रमण कर रहे हैं तो ग्रहों के आकाश भ्रमण करने में जो कुछ जटिलता है वह सम्पूर्ण प्रकार से दूर हो जायगी तथा कौन ग्रह किस समय में कहाँ पर रहेगा, इसकी गणना एक बालक भी कर सकेगा। पृथ्वी और ग्रहों की इस सूर्य्यकेन्द्रिक गति के आविष्कर्त्ता कोपर्निकस हैं। इनके पहले इसका आविष्कार हुआ था, यह कहने से सत्य का उपहास होता है।

हम लोगों के आर्य्यभट्ट ने पृथ्वी की दैनिक गति का आविष्कार किया था। पर पृथ्वी की वार्षिक सूर्य्यकेन्द्रिक गति के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ कहा था, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

हाँ, केवल यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में इस देश में जिस प्रणाली के अनुसार ग्रहों की अवस्थिति की गणना होती थी तथा इतनी जटिलता के रहने पर भी जिस सूक्ष्म भाव से फल निकाला जाता था, उसमें विलक्षण बहादुरी तथा उस्तादी है। उस बहादुरी तथा उस्तादी के देखने से शाबाश ही कहने को जी चाहता है। इसके अतिरिक्त जब देखा जाता है कि वह असीम परिश्रम से, अक्लान्त अध्यवसाय से, वन-जङ्गल पार होते हुए—पहाड़ पर चढ़ते हुए—विपुल विक्रमपूर्वक शैलशिखर के पास पहुँच गये थे, एक छलाँग मारते ही शैलशिखर पर पहुँच जाते और वहाँ निर्म्मल वायु में दिगन्त-पर्य्यन्त देख पड़नेवाले उजाले को देखने में समर्थ होते तब इतना पश्चात्ताप होता है जिसकी सीमा नहीं।

प्राचीन काल में किस प्रकार से ग्रहों की अवस्थिति का

निर्णय होता था, इसको दो-एक उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया जायगा। कल्पना करो, बुध ग्रह है। पहले कह आये हैं कि सूर्य्य पूर्व की ओर एक वर्ष में, अर्थात् ३६५ दिन के लगभग, एक बार नक्षत्रचक्र की परिक्रमा करता है। बुध ग्रह ठीक नक्षत्र-चक्र में नहीं घूमता। बुध ग्रह की एक नियमित बिन्दु की परिक्रमा लगभग ८८ दिन में एक बार होती है और वह नियमित बिन्दु, स्थिर न रहने से, मानो सूर्य्य के साथ ही भ्रमण करता है अर्थात् ३६५ दिन में नक्षत्रचक्र की परिक्रमा करता है। वह बिन्दु एक वर्ष में पृथ्वी की परिक्रमा करता है और बुध ग्रह उस बिन्दु को बीच में करके ८८ दिन में एक बार उस बिन्दु की परिक्रमा करता है। मानों एक बड़ी भारी चक्की पृथ्वी को बीच में रख कर ३६५ दिन में परिक्रमा करती है और एक छोटी चक्की उस बड़ी चक्की ही के परिधिस्थित एक बिन्दु को केन्द्रगत करके स्वतन्त्र भाव से बड़े ही वेग से चक्कर लगा रही है। मानों बुध ग्रह इस छोटी चक्की की परिधि पर है। अथवा आजकल जिस प्रकार से हम लोग सोचते हैं कि चन्द्र पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है और पृथ्वी चन्द्र को आसपास में लेकर सूर्य्य की प्रदक्षिणा करती है, बहुत कुछ इसी प्रकार घटित होता है। अतएव आज बुध ग्रह अमुक स्थान पर है कह देने से, दस दिन बाद किस स्थान पर होगा इसकी गणना सहज में हो सकती है। पहले निश्चय करो कि वह बिन्दु दस दिन में कितनी दूर हट जायगा। यदि एक वर्ष में ३६० डिगरी जावे तो दस दिन में कितनी दूर जायगा? ऐसा हिसाब करना होगा। इसके बाद बुध ग्रह दस दिन में बिन्दु के पास

कितना घूमेगा, ठीक करो। ८८ दिन में एक बार पूरा चक्कर लगाता है तो दस दिन में कितना चक्कर लगावेगा ? पहले पृथ्वी को बीच में करके बिन्दु को दस दिन के रास्ते पर हटा दो, फिर बिन्दु को बीच में रख कर बुध ग्रह को दस दिन के रास्ते पर हटा दो। इस प्रकार दस दिन के बाद बुध ग्रह कहाँ पर रहेगा, इसका पता लग सकता है।

इसी प्रकार दूसरे ग्रहों का भी स्थान-निर्देश हो सकता है। अब बृहस्पति को लो। बृहस्पति प्रायः ४,३३३ दिनों में अर्थात् बारह वर्ष से कुछ कम में एक निर्दिष्ट बिन्दु के चारों ओर धीरे धीरे परिक्रमा करता है। पर वह बिन्दु बड़े ही वेग से सूर्य्य के साथ साथ ३६५ दिन में नक्षत्रचक्र की परिक्रमा करता है।

परिणाम में सम्पूर्ण ग्रह एक एक निर्दिष्ट बिन्दु के चारों ओर नियमित समय में, कोई वेग से थोड़े समय में तथा कोई धीरे धीरे अधिक समय में, (बुध ८८ दिन में, बृहस्पति लगभग १२ वर्ष में) घूम रहे हैं। और वे बिन्दियाँ किसी प्रकार सूर्य्य से संलग्न रह कर सूर्य्य के साथ साथ ठीक एक वर्ष में नक्षत्रचक्र के पूर्व की ओर भ्रमण कर रही हैं। इस प्रकार हिसाब लगाने की गणना करने में सुभीता होता है और गतिफल भी प्रत्यक्ष मिल जाता है। प्राचीन काल में भारतवर्ष में इस प्रकार ग्रह-स्फुट की गणना होती थी और अब भी दैवज्ञ महोदयगण, संपूर्ण न जानते हुए भी, निर्विकार चित्त से इस प्रकार की प्रणाली का प्रयोग करते हैं।

यूरोप में टालेमि* ने इस प्रकार की गणना-प्रणाली की कल्पना की थी तथा इसी कल्पना से ज्योतिर्विद्या विज्ञानपद पर आरूढ़ हुई थी। और, इससे टालेमि की विशेष ख्याति तथा यश हुआ था।

सम्पूर्ण ग्रह स्वतन्त्रतापूर्वक नियमित समय में एक एक बिन्दु को केन्द्रगत कर घूम रहे हैं तथा वे बिन्दियाँ सूर्य्य से किसी प्रकार संलग्न या बँधी हुई हैं। इसी से सूर्य्य अपने घूमने के साथ ही साथ ग्रहों को भी खींच ले जाता है। अब यहाँ पर कल्पना को जगा कर सोचा जाय कि बिन्दियों को सूर्य्य से आबद्ध रहने की क्या आवश्यकता है? सूर्य्य को ही बिन्दुगत क्यों न मानें? देखें ऐसा होने पर क्या होता है? नहीं, ग्रहगण निर्दिष्ट समय में सूर्य्य को बीच में करके घूम रहे हैं तथा सूर्य्य उन सब के साथ पृथ्वी को बीच में कर नक्षत्रचक्र में घूम रहा है। एक बात और है। सूर्य्य पूर्व की ओर से पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर रहा है—यह कहने से जो नतीजा निकलता है, पृथ्वी सूर्य्य की पूर्व की ओर से परिक्रमा कर रही है कहने से वही मतलब होता है। अर्थात् दूसरे ग्रह जिस प्रकार सूर्य्य की प्रदक्षिणा करते हैं उसी प्रकार पृथ्वी भी सूर्य्य की परिक्रमा करती है। यानी सूर्य्य ही स्थिर है, पृथ्वी भी एक ग्रह है। आर्य्यभट्ट के कथनानुसार पृथ्वी प्रतिदिन एक बार चक्कर लगा रही है। यह मान लेने से भेद खुल जाता है। जो जटिल था वह सरल होता है, जो दुर्बोध्य था वह

* वास्तव में यह प्रणाली कितनी पुरानी है, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। टालेमि ने इसको केवल संस्कृत और विधिबद्ध किया था।

सुबोध होता है, जो अँधेरा था वह उजाला होता है। केवल इस कल्पना के उद्बोधन की आवश्यकता है, केवल एक छलाँग बाक़ी है। प्राचीन काल के विज्ञानी न जाने किस कारण से और एक पैर आगे रखना भूल गये थे। कोपर्निकस ने पैर आगे रक्खा था इसी से उनकी जय हुई।

प्राचीन मतानुसार बृहस्पति, शुक्र और शनैश्चर ये तीन गृह सूर्य्यसंलग्न बिन्दु की प्रदक्षिणा करते थे। इस बिन्दु का नाम बृहस्पतिशीघ्र, शुक्रशीघ्र और शनिशीघ्र था। अब हम लोग देखते हैं कि ये तीन पृथक् बिन्दु नहीं हैं। सूर्य्य स्वयं ही उन तीन बिन्दुओं सहित अभिन्न है। बुध और शुक्र जिन दो बिन्दुओं की प्रदक्षिणा करते हैं उनका प्राचीन नाम बुधमध्य और शुक्रमध्य है। अब यह देखा जाता है कि यह बिन्दु कुछ नहीं है, केवल स्वयं सूर्य्य है। नामकरण करते समय एक पक्ष में शीघ्र तथा दूसरे पक्ष में मध्य क्यों लगाया गया, उसको पाठकगण समझते होंगे।

इन बृहस्पतिशीघ्रादि तथा बुधमध्यादि के भ्रमण के अतिरिक्त ग्रहों की, अपने बिन्दु के चारों ओर, प्रदक्षिणा करने का जो नियमित समय है उसकी गिनती हम लोग सूर्य्यप्रदक्षिणकाल में कर सकते हैं। प्राचीनकाल में निर्धारित ग्रहों के केन्द्र स्थल (अर्थात् सूर्य्यप्रदक्षिण-काल सहित यहाँ एक सूची दी जाती है जिसमें आधुनिक नाना प्रकार के यन्त्रादि के सहारे समभाव से निर्द्धारित सूर्य्य प्रदक्षिण-काल की तुलना की गई है। पाठकगण उस समय के और इस समय के पर्य्यवेक्षण की तुलना स्वयं कर सकते हैं।

ग्रह	सूर्य्यसिद्धान्तमतानुयायी भगणकाल।			पाश्चात्यमतानुसार भगणकाल।		
	दिन	दण्ड	पल	दिन	दण्ड	पल
बुध	८७	५८	१०	८७	५८	६
शुक्र	२२४	४१	५५	२२४	४२	२
पृथ्वी	३६५	१५	३२	३६५	१५	२२
मङ्गल	६८६	५९	५१	६८६	५८	४६
बृहस्पति	४३३२	१९	१४	४३३२	३५	५
शनैश्चर	१०७६५	४६	२	१०७५९	१३	१०

फलित ज्योतिष के आचार्य्यगण मल्लयुद्ध के लिए हम लोगों का आह्वान करेंगे, इस बात की आशङ्का रहने पर भी इस प्रस्ताव में हम लोग कह सकते हैं कि अन्यान्य ग्रहों की गति से हम लोगों का कुछ सम्बन्ध नहीं है। परन्तु पृथ्वी की गति के साथ अथवा यों कहिए कि प्राचीनकाल के हिसाब से सूर्य्य की गति के साथ हम लोगों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव इस गति के विषय में और दो-एक बातें कहनी हैं।

पहले कह आये हैं कि सूर्य्य नक्षत्रचक्र में पूर्व्व की ओर कुछ हट जाता है। परन्तु यह वेग वर्ष भर में समान रहने पर भी ठीक बराबर नहीं रहता। सूर्य्य कभी कुछ तेज़ी से और कभी कुछ धीरे चलता है। बारह महीने समान वेग से चलने पर गणना में कुछ भी गोलमाल न होता; परन्तु कभी कुछ धीरे धीरे चलने से और कभी जल्दी चलने से गणना जटिलता में परिणत हो जाती है।

यह व्यतिक्रम दो कारणों से होता है। प्रथमतः सूर्य्य का पथ निरक्षवृत्त के ठीक समतल पर नहीं है अर्थात् सूर्य्य साल भर निरक्षवृत्त के ऊपर नहीं रहता। कभी कभी कुछ तिरछा होकर उत्तर में आता है और कभी दक्षिण की ओर चला जाता है। वर्ष में केवल दो बार निरक्षवृत्त के ऊपर आता है। एक बार चैत्र महीने में और दूसरी बार आश्विन में। चैत्र के बाद क्रमशः २३॥ अंश तक उत्तर की ओर जाता है, आश्विन के बाद क्रमशः २३॥ अंश तक दक्षिण की ओर जाता है। ज्योतिष की भाषा में कहने पर रविमार्ग ने पृथ्वी के निरक्षवृत्त को २३॥ अंश (सूक्ष्म हिसाब लगाने पर २३ अंश २८ मिनट) कोण रख कर दो स्थानों में छेद किया है। हिन्दू ज्योतिष में २३॥ अंश स्थान में बहुधा २४ अंश रख लेते हैं। निरक्षवृत्त और रविमार्ग के मध्यगत कोण को क्रान्ति कहते हैं। अति प्राचीन काल में यह २४ अंश का निर्णय हुआ था। यह जो आध अंश की ग़लती देख पड़ती है, ज्ञात होता है कि, यह कभी भी संशोधित नहीं हुई। इस क्रान्ति का परिमाण सर्वदा एक नहीं रहता*। क्रान्ति का परिमाण २४ अंश किस समय निर्धारित हुआ था इसके न जानने से ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि पर्य्यवेक्षण में ग़लती होने के सबब से यह आधे अंश का अन्तर हो गया है और कुछ स्वाभाविक क्रान्तिह्रास होने के कारण हो गया है।

---

* ४००० वर्ष पूर्व यह वक्रता २४ के लगभग थी। कुछ वर्ष पश्चात् यह प्रायः २३ अंश हो जायगी। सुनते हैं कि प्राचीन मिश्र देश तथा काल-दिया-निवासियों ने इस क्रान्तिह्रास का आविष्कार किया है।

सूर्य्य की इस उत्तर-दक्षिण की ओर गति के कारण अर्थात् यह उत्तरायण और दक्षिणायन होने से ऋतुपरिवर्तन और दिन-रात की घटती-बढ़ती होती है। पृथ्वी के सुमेरु और कुमेरु से २३॥ अंश देश पर्य्यन्त कभी कभी ऐसा होता है कि २४ घंटे के भीतर सूर्य्य का अस्त ही नहीं होता या सूर्य्य का उदय नहीं होता। किस समय में, कहाँ पर, दिन-रात किस परिमाण से होगा?—प्राचीनकाल में इसके जानने के लिए त्रिकोणमिति का प्रयोग करते थे। मेरुस्थल में ६ महीने का दिन तथा ६ महीने की रात होती है, इसे हम लोग ही नहीं जानते, किन्तु प्राचीन-काल में भी यह ज्ञात था।

सूर्य्य की गति अनियमित होने का एक और कारण है। सूर्य्य का पथ (आजकल उसे पृथ्वी का पथ कहते हैं) ठीक वृत्ता-कार नहीं है। केपलर ने पहले सिद्ध किया है कि यह पथ वृत्ता-भास क्षेत्राकार है। वृत्ताभास को अँगरेज़ी में Ellipse कहते हैं। पथ का आकार इस प्रकार का होने से सूर्य्य साल भर पृथ्वी से बराबर दूरी पर नहीं रहता। कभी कुछ ज़्यादा दूरी पर हो जाता है और धीरे धीरे चलता है तथा कभी कुछ नज़दीक आ जाता है और जल्दी चलता है। आजकल पौष महीने के बीच में नज़दीक आता है। आषाढ़ महीने के बीच में दूसरे समय की अपेक्षा दूर हो जाता है। इसी कारण जाड़ों में सूर्य्य जल्दी चलता है और गर्मी में धीरे धीरे; और वर्ष का शीतार्ध इसी कारण से कम है और ग्रीष्मार्ध ज़्यादा।

इस विषय पर ध्यान रखने से मालूम होगा कि अँगरेज़ी

मतानुसार पञ्चाङ्ग-गणना की अपेक्षा हम लोगों के प्राचीन मतानुसार गणना ही समधिक युक्तिसङ्गत तथा विज्ञानसङ्गत है। पहली बात—वर्ष में प्रायः ३६५। दिन होते हैं। पर लाचार होकर लोगों को ३६५ दिन का व्यावहारिक वर्ष मानना पड़ता है। इससे जो ग़लती होती है उसको अँगरेज़ी जंत्री में ४ वर्ष में एक दिन बढ़ा कर संशोधन कर लेते हैं। पर हमारे यहाँ जंत्री में हर वष पञ्चाङ्ग में संशोधन होता है। दूसरी बात—अँगरेज़ी बारह महीनों की दिन-संख्या में जो एक साधारणतः नियम है वह व्यवहार की दृष्टि से भले ही ठीक हो पर उसमें कुछ भी वैज्ञानिक युक्ति नहीं है। हम लोगों की जंत्री में महीने की दिन-संख्या ठीक सूर्य्य के गत्यनुसार निर्धारित की जाती है। गर्मी के महीने बड़े होते है क्योंकि उस समय सूर्य्य धीरे धीरे गमन करता है, पर शीतकाल में महीने छोटे होते हैं। क्योंकि उस समय सूर्य्य की द्रुत गति होती है। इसी लिए सूर्य्य के उत्तर देश भ्रमण करने में (चैत्र बदी ८ से लेकर आश्विन सुदी ८ पर्य्यन्त) १८७ दिन तथा दक्षिण भ्रमण करने में आश्विन सुदी ७ से लेकर चैत्र बदी ८ तक) १७८ दिन लगते हैं।

सूर्य्य का भ्रमणपथ वृत्ताभास है तथा पृथ्वी ठीक उस पथ के बीचोंबीच नहीं है, कुछ हट कर है। इसी से उपर्युक्त गोलमाल होता है। प्राचीन समय में सूर्य्यपथ का वृत्ताभास होना स्वीकृत नहीं किया गया था। उस समय वृत्ताभास का तत्त्व आविष्कृत नहीं हुआ था। परन्तु सूर्य्य की इस अनियत-गति-गणना के लिए कुछ कारीगरी की आवश्यकता होती थी। दो बिन्दुओं को

खूब पास रख कर, उनको केन्द्र मान कर, दो बराबर वृत्त खींचो, एक वृत्त के केन्द्र पर पृथ्वी है और सूर्य्य दूसरे वृत्त पर समान वेग से भ्रमण कर रहा है। इस प्रकार यदि माना जाय तो हम लोगों को सूर्य्य की गति के कभी कुछ बढ़ जाने और कभी कुछ घट जाने का कारण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पृथ्वी-केन्द्रिक वृत्त को प्रतिवृत्त कह सकते हैं। दोनों वृत्तों के केन्द्र की दूरी यदि अधिक न हो, तो इस प्रकार के प्रतिवृत्त के भ्रमण में और वृत्ताभास पथ के भ्रमण में बहुत अन्तर नहीं होता।

इस प्रकार की प्रतिवृत्त की कल्पना कर जिस प्रणाली के अनुसार सूर्य्य की अवस्थिति की गणना होती थी वह प्रणाली आज तक पाश्चात्य ज्योतिष में है। उसमें मौलिक कुछ भी परिवर्त्तन नहीं हुआ। इस प्रबन्ध में उस प्रणाली का विस्तृत वर्णन नहीं हो सकता। त्रिकोणमिति की सहायता के बिना गणना हो ही नहीं सकती तथा ऊपर भी कह आये हैं कि इसी कार्य साधन के लिए त्रिकोणमिति की सृष्टि की गई थी।

सूर्य्य की गति के विषय में एक बात और है। रविमार्ग ठीक वृत्ताकार नहीं है अर्थात् पृथ्वी सर्वदा सूर्य्य से बराबर दूरी पर नहीं रहती। रविमार्ग जिस स्थान पर चैत्र वदी ८ तथा आश्विन सुदी ७ को विषुवत रेखा को भेद करता है, उन दो स्थानों को क्रान्तिपात कहते हैं। यह क्रान्तिपात, दो बिन्दियाँ, आकाश में एकत्र स्थिर नहीं हैं। दोनों क्रान्तिपात क्रमशः पश्चिम की ओर धीरे धीरे हट रहे हैं। इनकी गति इतनी धीमी है कि बहुत काल के पर्य्यवेक्षण के बिना इनको पकड़ना मुश्किल है। वास्तव में

सौर जगत् की अन्यान्य गतियों की तुलना में एक प्रकार से यह गति आधुनिक समय में आविष्कृत हुई है। क्रान्तिपात वर्ष में ५० विकला से कुछ अधिक पश्चिम की ओर हटता है। अर्थात् लगभग २५००० वर्ष में सम्पूर्ण चक्र की परिक्रमा करता है। सूर्य्य पूर्व की ओर वेग से चलता है और क्रान्तिपात धीमी चाल से पश्चिम की ओर जाता है। परिणाम यह होता है कि सूर्य्य क्रान्तिपात से चलना आरम्भ कर पूरा एक चक्कर लगाने के कुछ पहले क्रान्तिपात से साक्षात् करता है तथा उसे पकड़ लेता है। क्रान्तिपात की यह गति न रहने पर अर्थात् अपने स्थान पर क्रान्तिपात के स्थिर रहने पर सूर्य्य एक वर्ष में पूरा एक चक्कर लगाकर क्रान्तिपात पर आ जाता। हम लोग सूर्य्य के एक बार चक्कर लगाने के समय को एक वर्ष कहते हैं। इसी लिए हम लोगों की जंत्री का वर्ष अँगरेज़ी की जंत्री के वर्ष से कुछ ज़्यादा है। इसमें किसी पक्षमें भी कोई दोष नहीं है। पर जब हम लोगों के वर्तमान पत्रे (पंचांग) के गणना आरम्भ हुई थी उस समय सूर्य्य वर्ष के आरम्भ में वैशाख की प्रतिपदा के लगभग क्रान्तिपात पर था। इन कई सौ वर्षों में क्रान्तिपात इतना हट गया है कि वैशाख का आरम्भ होने के कोई बीस दिन पूर्व्व, क्रान्तिपात पर आ जाता है। प्राचीन काल में वैशाख की प्रतिपदा को दिन-रात बराबर हुआ करता था। अब क्रमशः हटते हटते चैत्र वदी ८ के लगभग (२३ मार्च) को दिन-रात समान होते हैं। यदि हम लोग इस बड़े वर्ष का अवलम्बन करें, अँगरेज़ों की तरह छोटे वर्ष का ग्रहण न करें, तो ऐसा समय आवेगा जब पौष मास में दिन-रात समान

होगा तथा माघ मास में वैशाख की गर्मी का अनुभव होगा। प्राचीन ज्योतिष में इस क्रान्तिपात की गति को अयनचलन कहते हैं। भारतवर्ष में अयनचलन का आविष्कार बहुत प्राचीन काल में हुआ था, इसका ठीक परिमाण वर्ष में प्रायः ५० विकला है। पर हम लोगों के पत्रे में ५५ विकला ग्रहण किया जाता है। ५ विकला का अन्तर कुछ नहीं होता, पर बहुत भी होता है।

इस अयनचलन की गति के सम्बन्ध में प्राचीन समय के भारतीय पण्डितों का एक बड़ा भारी भ्रमात्मक विश्वास था। अब हम लोगों को क्रान्तिपात के प्रति २५००० वर्ष में एक चक्र के घूमने पर पूरा विश्वास है।

प्राचीन काल के पण्डितों का विश्वास था कि क्रान्तिपात की गति पेंडुलम की तरह है। पश्चिम की ओर जाते जाते कुछ दूर चल कर किसी के मतानुसार २७ अंश और किसी किसी के मतानुसार केवल २४ अंश क्रान्तिपात पूर्व की ओर लौटता है तथा पूर्व में भी उतनी ओर जा कर फिर लौटता है। एक स्थिर बिन्दु के पश्चिम की ओर २७ (या २४) अंश और पूर्व की ओर २७ (या २४) अंश के बीच की जगह में क्रान्तिपात बार बार आता जाता है। एक बार एक ही ओर जाकर एक चक्र नहीं घूमता। भास्कराचार्य्य तथा कई एक आचार्य्यों ने इस मत का विरोध किया था तथा क्रान्तिपात के चक्रभ्रमण को स्वीकार किया था, परन्तु न्यूटन के पहले इन दो मतों में से कौन ठीक है इसका निर्णय करने के लिए बहुत शताब्दी के पर्य्यवेक्षण के अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं था। न्यूटन के पश्चात

मीमांसा का उपाय स्थिर हुआ है। हमारे पत्रे की रचना आज तक उसी भ्रमात्मक सिद्धान्त के अनुसार होती है इससे कुछ समयोपरान्त बड़ा गोलमाल होगा। डेढ़ दो सौ वर्ष पहले ज्योतिषी लोग प्रत्यक्ष गणना-प्रणाली का मिलान कर गणना का संशोधन कर लेते थे। परन्तु अब हम लोगों के अँगरेज़ी विश्वविद्यालय-प्रदत्त डिग्री-पुञ्ज ने उस साहस तथा भरोसे को छीन लिया है! हाय वह दिन कहाँ गये! हा दैव हा धिक्! हा विडम्बना!!

बहुतों का शायद यह विश्वास है कि ध्रुवतारा सर्वदा से ध्रुवतारा है। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अयनचलन के सबब से ध्रुवतारा कुछ दिन पहले ध्रुवतारा नहीं था। सुमेरु से बहुत दूर था तथा भविष्य में बहुत दिन तक ध्रुव नहीं रहेगा। सुमेरु से दूर चला जायगा।

मृत्यु

किसी प्रकार पूँछ न रहने से बन्दर वनमानुष हो जाता है तथा वनमानुष के कुछ चिकना होने से उसके मनुष्य होने में कुछ देर नहीं लगती। उपर्युक्त तीनों जीवों को एक स्थान पर खड़ा करने से इस प्रकार का सन्देह होता है तथा कालान्तर में किसी प्रकार से बन्दर पुच्छविहीन हो, वनमानुष बन कर, तथा वनमानुष चिकना हो मनुष्य हो गया है। इस प्रकार का अनुमान करने में अधिक दिमाग़ नहीं लड़ाना पड़ता। फिर घड़ियाल के बच्चे की सूँड़ को चोंच बना देने तथा आगे को दो पैरों पर डैना लगा देने से वह पक्षी हो जाता है। प्राणितत्त्ववेत्ताओं को इसके समझने में देरी नहीं लगती। परन्तु यह परिणति-घटना किस प्रकार साधित होगी, उसी का स्थिर करना टेढ़ी खीर है। इन्हीं स्थानों पर मामला टेढ़ा मालूम पड़ता है यदि बन्दर की पूँछ का लोप होने से वह मनुष्य हो जाय तो अच्छी बात है। पर पूँछ का लोप होगा किस प्रकार? घड़ियाल या गिरगिट के सामनेवाले पैर यदि पंख बन जावें तो यह चिड़िया बन जावे, पर पैर पंख किस प्रकार से बन जावें?

इस "किस प्रकार" का उत्तर देने का कोई सहज में साहस नहीं करता। फ़रासीसी प्राणितत्त्ववेत्ता लामार्क ने इस प्रश्न का

उत्तर देने की इस प्रकार चेष्टा की थी—सन्तान पिता-माता के शारीरिक धर्म्म को लेकर पैदा होता है। सम्पूर्ण प्रकार से माँ-बाप के सदृश न होने पर भी वह अनेक अंशों में माँ-बाप के समान होता है। क्योंकि गाय के पेट से हाथी का बच्चा पैदा होना समाचार-पत्र के अतिरिक्त और कहीं नहीं देखा गया। अतएव सन्तान में अपने धर्म्म के संक्रमण करने की क्षमता का होना जीव का प्रधान लक्षण है।

इसके बाद एक और बात है। सन्तान उत्तराधिकारी होने से पितृधर्म्म तो पाता ही है पर कुछ नया धर्म्म स्वयं उपार्जन करता है। देश, गुण तथा कालक्रम से उसकी प्रकृति कुछ नये रूप से आक्रान्त होती है। इसका परिणाम यह होता है कि वह पैदा होने पर जैसा होता है, ठीक वैसा बड़े होने पर नहीं रहता। उसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। उससे पिता-माता से बहुत प्रभेद नहीं रहता, पर कुछ-कुछ प्रभेद होता है। वह अपनी पैतृक तथा स्वोपार्जित दोनों प्रकार की प्रकृति अपनी सन्तान को देता है। इसी से उसकी सन्तान सर्वांश में पितृ-पितामह की तरह नहीं होती। इस प्रकार थोड़ा थोड़ा प्रभेद होने से कई पीढ़ियाँ बीत जाने पर पुरुष तथा प्राचीन पूर्वपुरुष को एक श्रेणीस्थ जीव पहचानना कठिन हो जाता है। कल्पना करो कि किसी जीव की जीवनवृत्ति इस प्रकार की है कि उसके एक विशेष अङ्ग पर सर्वदा ज़ोर पड़ता है। उसके अभ्यास तथा उसको काम में लाने के सबब से वह अङ्गविशेष पुष्टि तथा सामर्थ्य प्राप्त करता है। उसके लड़के-बच्चे भी उस पुष्टि तथा

सामर्थ्य को प्राप्त करते हैं। वह सन्तान उस अङ्ग को और भी पुष्टकर तथा समर्थ बना अपने सन्तान को उन गुणों से संयुक्त करता है। इस प्रकार कई एक पीढ़ियों के पश्चात् वह विशेष अङ्ग इतना पुष्ट हो जाता है कि बीच की कई एक पीढ़ियों का धारावाहिक इतिहास न जानने पर यह निश्चय करना दुःसाध्य हो जाता है कि यह उससे इस प्रकार उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार अङ्गविशेष को काम में लाने से उसकी पुष्टि हो सकती है, उसी प्रकार वृत्तिभेद तथा व्यवसायभेदवशतः और उसके व्यवहार के अभाव से, कालान्तर में उस अङ्ग का क्षय तथा ह्रास भी हो सकता है। क्रमशः कई पीढ़ियों के पश्चात् क्षय, ह्रास तथा खर्वता होने से उस अङ्ग का एकबारगी लोप हो जाना भी असम्भव नहीं।

लामार्क ने जीवों की अभिव्यक्ति की इस धारा का निर्देश किया था; पर पण्डितमण्डली ने इसको प्रमाणित नहीं समझा। पुरुषानुक्रमिक अभ्यास से ज़िराफ़ का गला लम्बा हो गया है तथा पुरुषानुक्रमिक अनभ्यास से शुतुर्मुर्ग़ उड़ नहीं सकता, इस प्रकार की बातें मानी जा सकती हैं। पर सिर्फ़ इसी अभ्यास और अनभ्यास ही पर निर्भर कर बन्दर को मनुष्य बनाने की चेष्टा करना केवल विडम्बना है।

लामार्क के पश्चा् डारविन हुए। यह नहीं कि डारविन जीव के क्रमविकाश-विधान को अभ्यास तथा अनभ्यास का परिणाम न मानते रहे हों, पर इसको उन्होंने अभिव्यक्ति का मुख्य कारण नहीं माना। डारविन के मतानुसार क्रमशः पुरुषा-

क्रम्य सञ्चालित अभ्यास और अनभ्यास का फल, तथा पीढ़ियों का इकट्ठा किया हुआ स्वोपार्जित धर्म्म और शक्ति, जीव के क्रमविकाश में बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं; पर उसका परिमाण बिलकुल न होने पर भी कुछ है। डारविन के मतानुसार प्राकृतिक निर्व्वाचन ही जीवों की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण है। प्राकृतिक निर्व्वाचन के साथ ही साथ यौननिर्व्वाचन इत्यादि कई एक बातें कुछ न कुछ अभिव्यक्ति साधन करती हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु प्राकृतिक निर्व्वाचन के सामने इनकी कुछ गिनती नहीं है।

प्रथम—जीव की वंशरक्षा के लिए आहार की आवश्यकता है। परन्तु पृथ्वी पर जितने जीव हैं उतना आहार नहीं है। लड़कपन में पढ़ा था कि ईश्वर सम्पूर्ण जीवों के पालन-पोषण तथा रक्षा करनेवाले हैं, परन्तु जीवों की संख्या की गणना करने पर तथा खाने का परिमाण तौलने पर उपर्युक्त वाक्य के याथार्थ्य में घोर सन्देह होने लगता है। इस प्रकार की गणना करने तथा तौलने पर साफ़ दिखलाई देता है कि ईश्वर ने जितने जीवों की सृष्टि की है उन सब के लिए उपयोगी यथेष्ट आहार का बन्दोबस्त नहीं किया। मुट्ठी भर आहार के लिए न जाने कितने जीव आपस में लड़ रहे हैं और मर रहे हैं। संसार की यही प्रकृत अवस्था है। इस भयावह निष्ठुर जीवन-सङ्ग्राम में जिसको किसी प्रकार का कुछ सुभीता है वही भाग्यवान् पुरुष है। वही दैवप्रदत्त सुविधा,—चाहे उसके पास वह दो लम्बे पैर हों चाहे कुछ कड़ा चमड़ा हो अथवा कुछ तेज़ दाँत या तीक्ष्ण बुद्धि हो,—

चाहे जिस प्रकार की सुविधा क्यों न हो, जीवन-संग्राम में उसकी सहायता करती है; तथा उस सुभीते के होने से ही वह जीवन-संग्राम में आहार प्राप्त करने में समर्थ होता है। जीवन-संग्राम इतना कठोर है तथा व्यक्तिविशेष के लिए इसका फल इतना अनिश्चित है कि अति क्षुद्र तथा सामान्य सुविधा भी जीवन-संग्राम में अमूल्य अस्त्र का काम देती है।

दूसरी बात—माता-पिता का लड़का माँ-बाप की तरह होता है, पर ठीक उसी प्रकार का नहीं होता। न जाने कहाँ से कुछ नयापन तथा कुछ विशेषता अपने साथ लाता है। पाँच लड़के पाँच तरह के होते हैं, सर्व्वांश में एक प्रकार के नहीं होते। क्यों नहीं होते ? इस बात के विस्तार की आवश्यकता नहीं है। नहीं होता, इतना ही निश्चित है। कोई गोरा है और कोई काला, तथा किसी के रोएँ लम्बे हैं और किसी के छोटे इत्यादि। इसी प्रकार के नये लक्षण सन्तान में दृष्टिगोचर होते हैं। इन लक्षणों में कुछ ऐसे हैं जो जीवनानुकूल तथा कुछ जीवन के प्रतिकूल हैं। जो लोग अनुकूल लक्षण के साथ पैदा होते हैं, वे ही जीवनयुद्ध में विजय लाभ करते हैं और जो लोग प्रतिकूल लक्षणयुक्त होते हैं वे सन्तान पैदा करने के पहले इस संसार से कूच कर जाते हैं।

कहने का तात्पर्य्य यह है कि जो सुलक्षणयुक्त सौभाग्यशाली हैं वे ही वंशरक्षा करने में समर्थ होते हैं, और उन वंशीयगण में जो विशेष लक्षणयुक्त होते हैं वही जीते रहते हैं। इस प्रकार पुरुषानुक्रम से एक विशेष लक्षण क्रमशः परिस्फुट होकर एक

वंश को दूसरे वंश से अलग कर देता है, इस प्रकार नई जातियों की उत्पत्ति होती है। मानो प्रकृति अपने असंख्य सन्तानों में से कई एक निर्दिष्ट लक्षणविशिष्ट पुरुष को चुन लेती है। इसको प्राकृतिक निर्व्वाचन कहते हैं। इस निर्व्वाचन के होने से ही नये नये लक्षणों से युक्त जीव क्रमशः धरातल पर अवतीर्ण हो रहे हैं। जीव की इस क्रमिक अभिव्यक्ति के परिणाम में किन किन लक्षणों का विकास होता है? इस प्रश्न का केवल यही उत्तर हो सकता है कि उन उन लक्षणों का विकास, जो कि किसी न किसी प्रकार से जीवनरक्षा के अनुकूल हैं।

डारविन के द्वारा प्रदर्शित इस अभिव्यक्तिविधान ने सर्व्वत्र आदर प्राप्त किया है तथा जीवतत्त्ववेत्ताओं ने इसको माना भी है। जीवन-सङ्ग्राम में प्राकृतिक निर्व्वाचन विविध जीवों की अभिव्यक्ति का एकमात्र कारण न होने पर भी प्रधान कारण है। इसके स्वीकार करने में किसी को सन्देह नहीं।

लामार्क और डारविन के अभिव्यक्तिविधान में कहीं तो सादृश्य और कहीं पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों को स्वीकार है कि पिता का धर्म पुत्र में रहता है तथा इस पैतृक धर्म्म का उत्तराधिकारी होना स्वभावतः ही जीव का धर्म्म है। यहाँ तक तो लामार्क और डारविन दोनों का मेल है। पुत्र अपने पिता से स्वभावतः कई एक गुणों को पाता है तथा अपने प्रयत्न, शिक्षा-व्यवसाय से अर्थात् अपने जीवन पर बहिःप्रकृति के प्रभाववशतः जो नये गुण उपार्जित करता है वे अपनी सन्तान को देता है। वह पुत्र भी फिर अपने पैतृक गुण के अतिरिक्त

अपने उपार्जित गुण सन्तान को देता है। यह तो हुआ लामार्क का मत। परन्तु डारविन दूसरे प्रकार से मानते हैं। उनके मतानुसार पुत्र के जन्म लेने पर उसके पैतृक गुण के अतिरिक्त और भी कई एक गुण उसमें आविर्भूत होते हैं। कहाँ से आविर्भूत होते हैं? यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि कई एक नये चिह्न उसमें दृष्टिगोचर होते हैं जो उसके पितृपितामह में नहीं थे। यदि दैववशतः ये गुण उसकी जीवन-रक्षा के अनुकूल होते हैं तो वह जीवन-सङ्ग्राम में जीता है और कालान्तर में उसकी सन्तान में वही गुण प्रविष्ट होते हैं परन्तु यदि वे गुण प्रतिकूल हुए तो उसको संतानोत्पत्ति करने का अवसर नहीं देते। इसके पहले ही उनको जीवन-लीला समाप्त करनी पड़ती है। इसी से जीवन-संग्राम के अनुकूल दैवप्रदत्त लक्षण पुरुषानुक्रम से संक्रामित तथा सञ्चारित हो क्रमशः पुष्टि लाभ करते तथा विकशित होते हैं। वंश में जो इन लक्षणों से युक्त होते हैं वे ही जीते हैं और जो नहीं होते वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। क्रमशः जीवनरक्षा के अनुकूल लक्षण वंश में पीढ़ी दर-पीढ़ी विकशित होकर जीव को उन्नत तथा अभिव्यक्त कर देते हैं।

डारविन के पहले इस बात को किसी ने नहीं सोचा था। इस आविष्कार के लिए डारविन इतने गौरव की दृष्टि से देखे जाते हैं तथा लामार्क के साथ यहीं पर डारविन का मत-भेद है।

अभी तक भेद इतना ही था, पर अब इसकी मात्रा कुछ बढ़ गई है। जीव-शरीर में वहिःप्रकृति के प्रभाव से जो परिवर्तन होता

है वह दूसरी पीढ़ी में संक्रामित हो सकता है। लामार्क के इस मत को डारविन सम्पूर्णतः अस्वीकार नहीं करते थे। परन्तु अब डारविन के एक शिष्यसम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ है जो इस बात को एकदम उड़ा देता है।

हथौड़ी पीटने से जिस प्रकार लुहार और हल चलाने से जिस प्रकार किसान के हाथ की पेशियाँ मोटी तथा मज़बूत हो जाती हैं तथा लुहार के और किसान के लड़के में भी यह पेशियों की सबलता उत्तराधिकार सूत्रानुसार जन्मते ही होती है, उसी प्रकार सर्वसाधारण का संस्कार भी है। परन्तु डारविन का नया शिष्यसम्प्रदाय कहना चाहता है कि सर्वसाधारण का यह संस्कार कुसंस्कार है अथवा मिथ्या, भ्रान्त और अमूलक है।

परिणाम में डारविन का यह शिष्यसम्प्रदाय डारविन से भी आगे बढ़ गया है। डारविन ने तो प्राकृतिक निर्व्वाचन को अभिव्यक्ति के कारणों में से केवल प्रधान माना था। अब ये नये सम्प्रदायवाले प्राकृतिक निर्व्वाचन ही को सब कुछ कहते हैं। बहिःप्रकृति के प्रभाव से जीवकर्तृक नवोपार्ज्जित धर्म्म आनेवाले सन्तान में संक्रामित होता है—इसको डारविन मानते थे; पर ये लोग नहीं मानते। यह उपार्ज्जित धर्म्म सन्तान में संक्रामित हो सकता है कि नहीं? यह परीक्षा और प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो सकता है; परन्तु दूसरे प्रकार की युक्ति इसका प्रतिपादन नहीं कर सकती। दोनों पक्षों की ओर से बहुत प्रमाण इकट्ठे किये गये हैं। प्रमाणों को इकट्ठे होते देख कर ज्ञात होता है कि

नवोत्थित डारविन के शिष्य ही को आख़िर में विजयश्री आलिङ्गन करेगी। जान पड़ता है कि इतने दिन बाद सर्वसाधारण की परम्परा के विश्वास तथा संस्कार पर कुठाराघात होना चाहता है।

इस नवीन सम्प्रदाय का मत इस प्रकार का है। जीव पितृ-पितामह के धर्म्म के अतिरिक्त और भी कई एक नये धर्म्म-सहित जन्म ग्रहण करता है तथा एक स्वतन्त्र जीवन आरम्भ करता है। इस धर्म्म को उसका सहजात या सहज धर्म्म कह सकते हैं। फिर कुछ दिनों के पश्चात् उसके जीवन में नाना प्रकार की प्राकृतिक शक्तियाँ उसके जीवन-शरीर तथा अन्तःकरण को नाना प्रकार से परिवर्त्तित, मार्ज्जित, संस्कृत तथा विकृत कर देती हैं। इस प्रकार वह जन्म से लेकर मरणपर्य्यन्त एक नई श्रेणी के धर्म्म का उपार्ज्जन करता है। पैतृक धर्म्म तथा पैतृक धर्म्म से स्वतन्त्र सहज धर्म्म को छोड़ कर जो इस तीसरी श्रेणी के धर्म्म को जीव स्वयं उपार्जन करता है, उसको अर्ज्जित धर्म्म कह सकते हैं। लामार्क के मतानुसार पैतृक, सहज और अर्ज्जित तीनों प्रकार का धर्म्म सन्तान में संक्रामित हो क्रमशः वंश में प्रतिष्ठा तथा पुष्टि लाभ करता है। पर डारविन के नये चेलों के मतानुसार प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के धर्म्म अर्थात् पैतृक और सहज धर्म्म पीढ़ी दर-पीढ़ी संचारित होते रहते हैं। इसका प्रमाण नहीं मिलता कि अर्ज्जित धर्म्म एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रामित होता है। जिस पीढ़ी में वह अर्ज्जित होता है उसी पीढ़ी तक उसकी दौड़ है। अर्ज्जित धर्म्म पूर्वपुरुष से परपुरुष में

नहीं जाता, अतएव जिसको पैतृक धर्म्म कहते हैं वह भी उसके पिता का अर्ज्जित नहीं है। उसके पिता ने उस धर्म के साथ जन्म ग्रहण किया था, उसका उपार्जन नहीं किया। अतएव जितने धर्म्म हैं वे या तो सहज होते हैं या अर्ज्जित। प्राकृतिक निर्व्वाचन सहज और अर्ज्जित धर्म्म में से सहज धर्म्म पर एकान्त निर्भर करता है। व्यक्तिविशेष की जीवन-रक्षा करने में दोनों प्रकार के धर्म्म सहायता कर सकते हैं। परन्तु वंश-रक्षा तथा जाति-रक्षा करने में सहज धर्म्म का पूरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि अर्ज्जित धर्म्म एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को नहीं जाता, सहज धर्म्म पीढ़ी दर-पीढ़ी जाता है। अतएव प्राकृतिक निर्व्वाचन सहज धर्म्म में से कुछ को चुन लेता है; क्रमशः पुष्ट तथा परिस्फुट करता है और कुछ का लोप कर देता है। सहजधर्म्म में जो जीवन के अनुकूल हैं उन्हीं की क्रमशः उन्नति होती रहती है और जो प्रतिकूल हैं वे कई एक पीढ़ी पश्चात् लुप्त हो जाते हैं। मनुष्यों में यदि पाण्डित्य या सङ्गीत-पटुता किसी वंश का सहज धर्म्म हो और यदि वह किसी प्रकार जीवनानुकूल हो तो वह वंश-परम्परा में पुष्ट हो सकता है और यदि वह किसी व्यक्ति-विशेष की अर्ज्जित की हुई विद्या हो तो सन्तान को या दूसरी पीढ़ी को उसके लाभ करने की सम्भावना नहीं है।

इस नये सम्प्रदाय के नेता जर्मनी के तत्त्ववेत्ता पण्डित वाइज़्मैन हैं। जीवों में उपर्युक्त सहज धर्म्म की पुरुषानुक्रमिकता क्या होती है, दूसरे धर्म्म की क्यों नहीं होती? इसको वह इस प्रकार समझाने की चेष्टा करते हैं।

जीवों में साधारण सन्तानोत्पत्ति की प्रणाली इसी प्रकार की है। जीव जन्मग्रहण के पश्चात् अर्थात् पितृपुरुष से स्वतन्त्र जीवन लाभ करने पर कुछ काल तक बढ़ता है, चारों ओर से आहार-सामग्री इकट्ठी कर पुष्टिलाभ करता है तथा बढ़ता है। इस पुष्टिलाभ का होना तथा बढ़ना कुछ काल तक जारी रह कर रुक जाता है। सम्पूर्ण जीवों में एक ऐसा समय आता है जब वह और नहीं बढ़ता। उस समय उसका जीवत्व पक जाता है तथा पूर्ण होता है। साधारणतः ऐसे समय के होने पर उसके शरीर का कुछ अंश उसके शरीर से गिर कर स्वतन्त्र होता है। इस अंश को बीज कह सकते हैं। बीज के उपयुक्त क्षेत्र में गिरने से वह क्रमशः फिर स्वतन्त्रतापूर्वक स्वतन्त्र तथा स्वाधीन जीवन आरम्भ कर पुष्ट तथा वृद्ध होता है। इसी प्रकार परम्परा से होता रहता है।

बीज से पैदा हुआ नया पुरुष पूर्वतन पुरुष का धर्म्म पाता मानो पूर्वपुरुष की सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक प्रकृति उस कणमात्र बीज में किसी प्रकार छिपी रहती है। उपर्युक्त समयानुसार तथा सुयोग के मिलने पर क्रमशः दृष्टिगोचर होने लगती है। सहज ही अनुमान होता है कि बीज पूर्वतन पुरुष के जीवभाव का एक छोटा-सा प्रतिनिधि है। पूर्वतन पुरुष के सम्पूर्ण शरीर में जो जहाँ पर है उनमें का कुछ न कुछ अंश बीज में छिपा रहता है। कालान्तर में वह पुष्ट, व्यक्त तथा प्रकाशित होता है।

परन्तु वाइज़मैन दूसरी तरह से कहना चाहते हैं। वे इस

बात को नहीं मानते कि बीज के साथ सम्पूर्ण शरीर का इस प्रकार सम्बन्ध है। जीवशरीर स्थूलतः दो भागों में विभक्त है, इस प्रकार का निर्देश प्रत्येक जीव-जाति के प्रत्येक जीव के पक्ष में हो सकता है। पहले भाग को बीज तथा दूसरे को आवरण भाग कह सकते हैं। बीजभाग प्रकृत प्राणी तथा प्रकृत जीव है। प्रकृति के निकट वही मूल्यवान् है। आवरण-भाग का अस्तित्व केवल बीजभाग के लिए है। केवल वह बीजभाग को ढके रहता है। उसका और कोई दूसरा काम नहीं। नाक, मुँह, कान, आँख, स्नायु, अस्थि, पेशी, त्वक्, शिरा, धमनी प्रभृति—साधारणतः जिसको शरीर कहते हैं,—प्रायः वे सम्पूर्ण वस्तुएँ आवरण के लिए बनाई गई हैं अर्थात् इनका काम बीजभाग को प्रकृति के आक्रमण से बचाना है।

यह आवरण भाग बीज भाग से उत्पन्न होता है। बीज अपना आवरण स्वयं बनाता है। बीज अपने दो हिस्से करता है। एक भाग बीज ही रहता है और दूसरा हिस्सा उस बीज भाग को बाह्यप्रकृति के आक्रमण से रक्षा करने के लिए गठित तथा निर्म्मित होता है। आवरण-शरीर बीज-शरीर से उत्पन्न होता है; इसी से बीज का धर्म आवरण में रहता है। जैसा बीज होता है उसी के अनुसार उसका आवरण भी होता है। वृक्ष के बीज से वृक्ष का शरीर तथा मनुष्य के बीज से मनुष्य का शरीर उत्पन्न होता है। बीज की रक्षा करना ही आवरण का काम है। बहिःप्रकृति के साथ आवरण का सम्बन्ध है। बहिःप्रकृति जो अत्याचार या उपद्रव करती है उसको आवरण ही

सहन करता है। बाह्यप्रकृति के सम्बन्ध के कारण आवरण पीड़ित, दलित, विकृत तथा परिवर्त्तित होता है। बाह्यप्रकृति आवरण को भेद कर बीज पर अत्याचार तथा उसको विकृत सहज में नहीं कर सकती। बीज आवरण की सृष्टि करता है: परन्तु आवरण से बीज नहीं उत्पन्न होता। बीज धान है और आवरण भूसी। आवरण के विकार-ग्रसित होने से बीज का कुछ नहीं बिगड़ता तथा आवरण की उन्नति से बीज की उन्नति नहीं होती। जीवन की प्रथमावस्था में बीज आवरण की सृष्टि करता है। पश्चात् आवरण बहिःप्रकृति के साथ युद्ध कर पुष्ट, विकृत या संस्कृत हो बीज की रक्षा करता है। जीवन की पूरी जवानी के आने पर बीज, जीवन के प्रधान कार्य्य के साधने का, लग्गा लगाता है। स्वयं अपना ही विभाग करता है तथा अपने कुछ भाग को अपने से निकाल देता है। यह भाग अलग होकर स्वतन्त्र जीवन लाभ करता है तथा स्वभावानुसार अपना नया आवरण बना कर अपनी जीवन-लीला आरम्भ करता है। इसी घटना का नाम सन्तानोत्पादन है।

बीज भाग "क" है और आवरण भाग "ख"। "क" और "ख" दोनों मिल कर सम्पूर्ण जीवशरीर है। "क" से "ख" की उत्पत्ति होती है। "ख" की उत्पत्ति "क" की रक्षा करने के लिए होती है अर्थात् बाहर की जो प्राकृतिक शक्तियाँ "क" को नाश करना चाहती हैं उनसे "क" की रक्षा करने के लिए। "ख" बाहर से आहार संग्रह करता है, आत्मपुष्टि करता है तथा इसके साथ ही साथ "क" को चुपचाप सुरक्षित तथा अविकृत रखता

है। "क" में जो सम्पूर्ण धर्म है वह जीव का सहज धर्म है। "ख" बाह्यप्रकृति के प्रभाव से जिस धर्म का उपार्जन करता है वह जीव का अर्जित धर्म्म है। "ख" सहज में विकृत होता है परन्तु "क" सहज में विकृत नहीं होता। "ख" क्रमशः पुष्ट तथा वृद्ध होकर अपने सामर्थ्य की सीमा या परिणति तक पहुँचता है। उसी समय को जीव का पूर्ण वयस अथवा यौवन-काल कहते हैं। बाह्यप्रकृति के साथ "ख" का सङ्ग्राम अनन्त काल तक नहीं हो सकता। जब तक "ख" की जय होती है तब तक उसकी वृद्धि तथा पुष्टि होती है। एक समय ऐसा होता है जिस समय इसकी पुष्टि तथा वृद्धि का ह्रास होने लगता है। तब से आवरण क्रमशः जीर्ण होने लगता है "ख" की पुष्टि तथा वृद्धि की अवस्था को बाल्यावस्था कहते हैं। "ख" की परिणत अवस्था, जीव की यौवनावस्था, तथा "ख" की जीर्णता-प्राप्त अवस्था को वार्धक्य कहते हैं। यौवन और वार्धक्य के पहले "क" अपने वार्धक्योन्मुख आवरण को हटा कर बाहर आना चाहता है। उस समय "क" प्राचीन वार्धक्योन्मुख जीर्ण आवरण पर और विश्वास नहीं करता; प्राचीन आवरण का परित्याग कर बाहर निकल आता है अथवा अपना ही कुछ अंश बाहर निकाल देता है। "क" प्राचीन "ख" के आवरण से निकल कर नये सिरे से संसार-यात्रा करना प्रारम्भ करता है। "क" "ख" से इस प्रकार मुक्तिलाभ कर बाहर आता है और नया आवरण बनाता है। मान लो उस नये आवरण का नाम "ग" है। पहली पीढ़ी में "ख" जिस प्रकार "क" से उत्पन्न हुआ

था, इस समय "ग" भी उसी प्रकार "क" से उत्पन्न होता है। "क" और "ख" दोनों मिलाकर माता या पिता हैं। जीवतत्त्व में माता-पिता में विशेष भेद नहीं माना गया। संसार में दोनों का एक ही दर्जा है तथा दोनों के जीवन का उद्देश्य भी एक है। "क" और "ग" दोनों मिल कर पुत्र या कन्या हैं। "क" और "ख" का समष्टि पूर्वपुरुष तथा "क" और "ग" का समष्टि पर-पुरुष कहलाता है। सहज धर्म्म जो पूर्वपुरुष में था वह पर-पुरुष में भी मिलता है। क्योंकि सहज धर्म "क" का धर्म्म है; तथा पूर्वपुरुष का "क" अविकृत अवस्था में पर-पुरुष को मिलता है पहले "क" एक आवरण के भीतर था, अब भी "क" दूसरे आवरण के भीतर है। पिता और पुत्र में केवल इतना ही प्रभेद है। पूर्वपुरुष का अर्जित धर्म्म पर-पुरुष को नहीं मिलता क्योंकि "ग" के साथ "ख" का कोई सम्बन्ध नहीं है। बाह्यप्रकृति के सबब से "ख" में जो परिवर्त्तन होता है उसका प्रभाव "क" पर नहीं होता। इसी से उसका प्रभाव "ग" पर भी नहीं होता। पर-पुरुष का "क" एवं "ग" पूर्वपुरुष के सहज धर्म्म को पाता है, अर्जित धर्म्म उसे नहीं मिलता। इसी प्रकार "ग" जिन नये धर्म्मों का उपार्जन करता है वे तत्परवर्त्ती पुरुष को नहीं मिलते। उनका नाश उसके जीवन ही में होता है।

बीज "क" प्राचीन जीर्ण आवरण "ख" का परित्याग कर नये आवरण "ग" की सृष्टि करता है और उसमें यौवनकाल तक रहता है। "क" के मुक्त होकर नया स्वाधीन जीवन आरम्भ कर देने पर "ख" का काम पूरा हो जाता है। "ग" का

कार्य्य जब आरम्भ होता है तब "ख" की कोई आवश्यकता नहीं पड़ता। उस समय प्रकृति की "ख" पर अणुमात्र भी ममता नहीं रहती। पुत्र के पैदा होने पर पिता वृद्ध हो गया। पिता के जीवन का उद्देश्य सिद्ध हो गया। अब उसका रहना केवल बोझ है। उसके रहने से केवल जीवन-संग्राम की तीव्रता की वृद्धि होती है। स्फूर्ति तथा आग्रहपूर्वक नया जीवन आरम्भ कर शिशु नये उत्साह से जीवन-संग्राम में उपस्थित होता है। इस समय वृद्ध का जीवन उद्देश्यहीन तथा निरर्थक है। प्रकृति ने उसको एक रास्ता बता दिया है। उसको उसी रास्ते पर चलना चाहिए। वहाँ उसको शान्ति मिलेगी। उस रास्ते का नाम मृत्युपथ है। बुड्ढे का मरना ही अच्छा है, जिससे कि वृद्ध के न जीने से पृथ्वी का बोझा कम हो जाय।

'क' और 'ख' से पहली पीढ़ी और 'ग' से दूसरी पीढ़ी तथा 'क' और 'ग' से तीसरी पीढ़ी होती है। इस प्रकार पीढ़ी के पश्चात् पीढ़ी होकर जीवन का प्रवाह जारी रहता है। बीज "क" एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चला जाता है। आवरण 'ख' 'ग' 'घ' 'ङ' प्रभृति हर पीढ़ी में बदलता रहता है। 'ख' 'ग' 'घ' ये तीनों 'क' से उत्पन्न होते हैं। इसी से शैशवावस्था में 'ख' 'ग' 'घ' एक भावापन्न होते हैं। उम्र के साथ ही साथ 'ख' 'ग' 'घ' व्यवसायभेदवशतः विभिन्न भाव तथा विभिन्नरूप में विकृत होकर विभिन्न रूप धारण करता है। 'ख' 'ग' 'घ' में जो सादृश्य है उसकी उत्पत्ति 'क' यानी सहज धर्म्म से हुई है। जो विभेद है वह वाह्य प्रकृति के कारण

हुआ है, पुरुषानुक्रम में सहज प्रकृति का स्रोत जारी रहता है : अर्जित धर्म्म केवल एक पीढ़ी ही तक रहता है ।

इस ऊपर के वर्णन से तो केवल यही सिद्ध होता है कि जीव का आवरण-शरीर कितना ही विकृत क्यों न हो और चाहे जितना परिवर्त्तित क्यों न हो, उसके बीज-शरीर के विकृत होने की सम्भावना बहुत कम है । तो क्या बीज-शरीर विकृत होता ही नहीं ? ऐसा होने पर अभिव्यक्ति का द्वार ही बन्द हो जाता है । "क" की अर्थात् बीज की भी विकारक्षमता को स्वीकार करना पड़ेगा । जीवन-संग्राम में "क" रथी है और "ख" उसका रथ है । "क" को किसी प्रकार अपनी रक्षा करनी होगी । "ग" की सृष्टि केवल आत्मरक्षा के लिए है । "क" अपने को स्वयं विकृत कर सकता है । संग्राम में जब जैसी आवश्यकता पड़ती है उस समय वह उसी प्रकार परिवर्तित होने का सामर्थ्य रखता है । कहाँ से इस क्षमता की उत्पत्ति होती है तथा इसका कारण क्या है, यह दूसरी बात है । जब तक कि इसका कारण नहीं ज्ञात होता, सिर्फ़ इसी पर सन्तोष करना होगा कि वह इस प्रकार का सामर्थ्य रखता है । यदि इस प्रकार का उसमें सामर्थ्य न होता तो वह जीवन-युद्ध में कभी का विलुप्त हो गया होता । इसका स्वभाव इस प्रकार का है, इसी से यह अभी तक वर्तमान है । "क" धीरे-धीरे जीवन-समर की उपयोगिता पर लक्ष्य कर परिवर्त्तित होता है । अर्थात् जीव का सहज धर्म्म भी परम्परा से एक सा न रह कर क्रमशः विकृत तथा परिवर्त्तित होता है । वह उस प्रकार विकृत होता

है जिससे कि जीवन-संग्राम में फल मिलने की सम्भावना हो। सहजधर्म्म में भी प्रकृति कुछ धर्मों को वरण करती है। प्रकृति निर्वाचन-परायणा है। जो अनुकूल धर्म्म हैं उन्हीं की पुष्टि होती है और प्रतिकूल धर्म्मों का लोप होता है। "क" क्रमशः अभिव्यक्त होता है। प्राकृतिक निर्वाचन का प्रभाव सहज धर्म्म पर पड़ता है। अर्जित धर्म्म से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं।

जीव के इतिहास में आज तक जो उन्नति हुई है उसका मुख्य कारण बीज की उन्नति ही है। प्रधानतया प्राकृतिक निर्वाचन ही से बीज की ऐसी उन्नति हुई है। प्राकृतिक निर्वाचन किस प्रकार अलक्षित होकर बीज की उन्नति करता है? बीज को अपनी उन्नतिसाधनक्षमता कहाँ से मिली है? ऐसे प्रश्नों का उत्तर भविष्य-विज्ञान देगा। अभी तक वह दिशा कुहरे से आच्छन्न है. अन्धकारमय है।

यहाँ पर एक बड़ा भारी प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव नश्वर है या अविनश्वर। जो देख पड़ता है उससे तो यही ज्ञात होता है कि "क" अविनश्वर है अर्थात् जीव का बीज-देह अविनश्वर है और "ख" नश्वर है अर्थात् जीव का आवरण-देह नश्वर है। मृत्यु बीज का धर्म्म नहीं है, जीव के आवरण-शरीर का धर्म्म है। बीज एक घर से दूसरे घर में प्रवेश करता है, पुराने फटे हुए कपड़े को उतार कर नया कपड़ा पहनता है। गृही के न रहने पर गृह गिर जाता है तथा पुराना कपड़ा चिथड़ा हो जाता है। "क" नहीं मरता। "ख" से "ग" में जाता है और "ग" से "घ" में। किन्तु "ख", "ग" और "घ" का परिणाम

मृत्यु है। बीज का आकस्मिक मरण दैववशतः कभी हो सकता है। पर आवरण की मृत्यु अवश्य होगी।

मृत्यु जीव का स्वाभाविक धर्म्म है—"मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्"—इस प्रकार का निर्देश सत्य नहीं ज्ञात होता। जीव के आवरण-शरीर का धर्म्म मृत्यु है; अतएव अर्जित धर्म्म है। बीज में वह धर्म्म वर्तमान नहीं। बीज के आवरण-भाग ने उस धर्म्म का उपार्ज्जन किया है। क्यों? किस लिए?—जीर्ण आवरण से जीवन-संग्राम में कुछ लाभ नहीं है। वह जीवन का बोझा हलका न कर भारी बनाता है—संग्राम की तीव्रता की वृद्धि करता है। जीर्ण आवरण के विनाश ही में मंगल है। बूढ़े का मरण लड़के के लिए कल्याणकारी है। अतएव प्रकृति का कठोर आदेश है कि,—हे बूढ़े, अपने जीर्ण आवरण-सहित तुम हट जाओ तथा अपनी जगह पर लड़के को लड़ने दो। प्रकृति का आदेश अवश्य पालन करना होगा। जो आदेश पालन करने में अन्य-मनस्क हैं उन पर प्रकृति सन्तुष्ट नहीं है। इसी लिए प्राकृतिक निर्वाचन होने से मृत्यु की सृष्टि हुई है।

इस अर्थ में जीव की मृत्यु नहीं है। जीव पैदा होने के बाद नहीं मरा। यह स्रोत जिस दिन से निकला है उस दिन से कहीं नहीं रुका। पिता की मृत्यु नहीं है। पिता केवल पुत्ररूप में जन्म-ग्रहण करते हैं। शास्त्र का वचन इसी अर्थ में ठीक जान पड़ता है।

प्राचीन ज्योतिष

दूसरा प्रस्ताव

समतल मेज़ पर एक लट्टू नचाने से लट्टू अपनी ध्रुवरेखा अर्थात् अक्षरेखा के चारों ओर बड़े वेग से घूमने लगता है, परन्तु ध्रुवरेखा अर्थात् बीच की शलाका ठीक ऊर्ध्वाधोभाव से खड़ी रहती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शलाका स्थिर न रह कर कुछ हिल कर धीर गति से एक छोटे वृत्ताकार पथ पर भ्रमण करती है। यही अवस्था पृथ्वी की भी है। पृथ्वी की ध्रुवरेखा भी स्थिर न रह कर धीर गति से एक वृत्ताकार पथ को प्रायः २५००० वर्ष में चक्कर लगाती है। आज जिस स्थिर नक्षत्र की ओर पृथ्वी की ध्रुवरेखा का लक्ष है, कई शताब्दियों के पश्चात् ठीक उस नक्षत्र की ओर ध्रुवरेखा का लक्ष न होगा। अतएव आजकल हम लोग जिस तारे को ध्रुवतारा कहते हैं, कई शताब्दियों के पश्चात् उसका ध्रुवत्व नहीं रहेगा। २५००० वर्ष के पश्चात् फिर वही नक्षत्र ध्रुवत्व को प्राप्त होगा। पृथ्वी की ध्रुवरेखा के इस २५००० वर्ष के आवर्त्तन के परिणाम से क्रान्ति-पात की गति तथा अयनचलन की उत्पत्ति हुई है।

यदि पृथ्वी सम्पूर्ण गोल होती, यदि उसका मेरुप्रदेश चपटा

तथा निरक्षदेश फूला हुआ न होता, तो ध्रुवरेखा की ऐसी गति न होती। ऐसा होता तो आजकल जो ध्रुवतारा है वह सर्वदा के लिए ध्रुवतारा रहता। परन्तु ज्योतिषियों के अभाग्यवशतः पृथ्वी की ध्रुवरेखा एक ओर न रह कर धीरे-धीरे घूम रही है। इसी से यह गोलमाल होता है।

अयनचलन के अतिरिक्त एक और गति का उल्लेख करना यहाँ पर आवश्यक जान पड़ता है। क्रान्तिपात पूर्व से पश्चिम की ओर भ्रमण करता है। परन्तु मन्दोच्चस्थल पश्चिम से पूर्व की ओर जाता है। सूर्य्य का मार्ग (आधुनिक मतानुसार पृथ्वी का मार्ग) ठीक वृत्ताकार नहीं है, इसी से पृथ्वी सर्वदा सूर्य्य से समान दूरी पर नहीं रहती। जिस स्थान पर दोनों के बीच की दूरी सब से ज़्यादा होती है उस स्थान को मन्दोच्च कहते हैं। अँगरेज़ी में इसे Apogee कहते हैं। सूर्य्य कभी थोड़ी दूर हट जाता है तथा कभी कुछ पास आ जाता है। इसी से सूर्य्य का मण्डल कभी छोटा तथा कभी बड़ा दिखलाई देता है। वर्ष में सूर्य्य का व्यास कभी छोटा और कभी बड़ा देख पड़ता है। इस सूर्य्यव्यास का घटना-बढ़ना इतना सामान्य है कि साधारण चक्षु से यह नहीं देख पड़ता। परन्तु यन्त्र से देखने पर सहज ही में ज्ञात हो जाता है। जैसे हो, इस घटने-बढ़ने को मापने पर सूर्य्य के दूरत्व तथा सामीप्य में कितना अन्तर है, ज्ञात हो सकता है। अतएव सूर्य्य-मण्डल का व्यास किस समय कितना बड़ा देख पड़ता है, इसके जानने के लिए सूक्ष्म परिमाण की आवश्यकता है। आजकल यन्त्र के सहारे इस परिमाण का

जानना अवश्य सहज हो गया है। परन्तु प्राचीन समय में इस प्रकार का सूक्ष्म यन्त्र नहीं था इसलिए दूसरे उपाय से काम लिया जाता था।

मान लो, आज सूर्य्यमण्डल का व्यास कितना बड़ा है अर्थात् आकाशचक्र में सूर्य्यमण्डल कितनी डिगरी तक व्याप्त है, यह निकालना होगा। इसके लिए सूर्य्योदय के पहले घड़ी लेकर खुले मैदान में या ऊँची छत पर जाकर बैठो। ठीक जिस समय सूर्य्य का एक प्रान्त अर्थात् पश्चिम प्रान्त क्षितिज-रेखा पर दिखलाई दे उसको नोट कर लो। इसके पश्चात् जितनी देर बाद सूर्य्य का दूसरा भाग अर्थात् पूर्व प्रान्त क्षितिज-रेखा पर दिखलाई दे—अर्थात् जितनी देर में समस्त मण्डल उदय होता है—उसको लिख लो।

सूर्य्य के सारे मण्डल का उदय होने में जितना समय लगेगा वह इस प्रकार जाना जा सकता है। इस समय के जानने से व्यास-परिमाण के जानने में विशेष कष्ट नहीं होता। पृथ्वी के दैनिक आवर्त्तनवशतः सूर्य्यमण्डल लगभग ६० दण्ड में सम्पूर्ण गगनचक्र का अर्थात् ३६० डिगरी का भ्रमण करता है। ठीक ६० दण्ड में नहीं, कभी-कभी कुछ अधिक समय लगता है तथा कभी कुछ कम समय। जो हो, ३६० डिगरी भ्रमण करने में कितना समय लगता है इसके जानने से मालूम हो सकता है कि सम्पूर्ण मण्डल के उदयसमय में कितनी डिगरी गति थी। यही सूर्य्य-मण्डल के व्यास का परिमाण है। इस व्यास का परिमाण प्रायः ३२ कला है अर्थात् आधी डिगरी से कुछ अधिक है।

आजकल सूर्य्य का दूरत्व १८ आषाढ़ को, अर्थात् गर्मी के बीचोंबीच, सब से अधिक होता है। उस समय सूर्य्य मन्दोच्च पर रहता है। उस समय सूर्य्य-मण्डल का व्यास प्रायः ३१॥ कला रहता है; और १८ पौष को अर्थात् प्रबल जाड़े के बीचों-बीच सूर्य्य का दूरत्व सब से कम रहता है। उस समय सूर्य्य-मण्डल सब से बड़ा देख पड़ता है तथा उस समय उसका व्यास ३२॥ कला से भी कुछ अधिक देख पड़ता है।

१८ आषाढ़ को ३१॥ कला तथा छः महीने बाद १८ पौष को ३२॥ कला सूर्य्य का व्यास रहता है अर्थात् साल-भर में एक कला का भेद होता है। यदि पृथ्वी का मार्ग ठीक वृत्ताकार होता तथा सूर्य्य केन्द्रवर्ती होता तो ऐसा न होता। मार्ग वृत्ताकार नहीं है तथा सूर्य्य भी ठीक केन्द्रवर्त्ती नहीं है, कुछ एक ओर हटा हुआ है। इसी से छः महीने में एक कला का अन्तर पड़ता है। यदि सूर्य्य की दूरी १८ पौष को ६३ मान ली जाय तो १८ आषाढ़ को उसकी दूरी ६३ से अधिक, लगभग ६५ के, होगी। औसतन ६४ होती है। और वर्ष-भर में दूरत्व का भेद लगभग २ होता है अर्थात् पूरी दूरी का ३२वाँ हिस्सा होता है। इस भग्नांश को अँगरेज़ी में Eccentricity और हिन्दी में उत्केन्द्रता कहते हैं। इसके परिमाण को जानने से यह निकाला जा सकता है कि सूर्य्य की दूरी साल में किस समय कितनी होगी।

आधुनिक मतानुसार औसतन सूर्य्य के व्यास का परिमाण ३२ कला है। सूर्य्यसिद्धान्त के मत में सूर्य्य के व्यास का औसतन परिमाण ३२ कला २४ विकला है। कभी इससे कुछ अधिक हो

जाता है और कभी कुछ कम। सूर्य्यसिद्धान्त में जितनी Eccentricity मानी गई है वह आधुनिक मत से कुछ भिन्न है तथा अधिक है। आधुनिक मतानुसार जो ११५ होता है, सूर्य्यसिद्धान्त के मत से वह १३० होता है अर्थात् लगभग दो आने के हिसाब से अधिक है। सूक्ष्म यन्त्र के अभाव से ऐसे भेद के होने में कुछ विचित्रता नहीं है।

सूर्य्य १८ वीं आषाढ़ को मन्दोच्च पर रहता है। मन्दोच्च से जितनी दूर होता जाता है उतनी ही उसकी दूरी घटती जाती है और वह देखने में भी बड़ा होता जाता है तथा सूर्य्य के आकाश-चक्र में भ्रमण करने का वेग भी बढ़ने लगता है। अतएव वर्ष में किस तारीख़ को सूर्य्य मन्दोच्च से कितनी दूर है, यह मालूम न रहने से सूर्य्य की गति की गणना नहीं हो सकती। प्राचीन ज्योतिषशास्त्र में पहले सूर्य्य का मन्दोच्च से दूरत्व निकाल कर फिर सूर्य्य के प्रकृत अवस्थिति-स्थान का पता लगाते थे। आधुनिक ज्योतिष में भी ठीक उसी प्रणाली के अनुसार गणना होती है। दोनों प्रणालियों में कोई भेद नहीं है*। परन्तु यहाँ पर कुछ सावधानी करनी पड़ती है। सूर्य्य-पथ का मन्दोच्च स्थान क्रमशः हट रहा है। आजकल १८ वीं पौष को सूर्य्य और समय की अपेक्षा पास रहता है। कुछ दिन के पश्चात् ठीक १८ वीं पौष को

* इस बात के उल्लेख करने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि माध्याकर्षण के नियम के प्रयोगद्वारा सौर्य्य जगत् के अन्तर्गत ज्योतिष्कगण की गति वर्तमान समय में किस सूक्ष्मता से ठीक की जाती है।

ऐसा न होगा। कुछ पीछे रहेगा। पहले कह आये हैं कि क्रान्ति-पात जैसे-जैसे क्रमशः पश्चिम की ओर हट रहा है वैसे-वैसे मन्दोच्च भी पूर्व की ओर हट रहा है। अतएव वर्ष में मन्दोच्च कितना हट रहा है, यह न जानने से सर्वदा ठीक फल नहीं मिलेगा। इस मन्दोच्च की गति का निरूपण करना कठिन है, विशेषतः जब कि यन्त्रों की सहायता न मिले। सिर्फ़ आँख से सूर्य्यमण्डल के विस्तार के परिमाण को देख कर निरूपण करना पड़ता है। प्राचीन समय में मन्दोच्च का पूर्व ओर खसकना लोगों को ज्ञात था; परन्तु इस गति के परिमाण के निर्धारण करने में बड़ी भारी ग़लती हुई थी। प्राचीन मतानुसार साल-भर में इसका परिमाण एक विकला का प्रायः दसवाँ हिस्सा है; परन्तु इसका यथार्थ परिमाण ११। विकला है। यह भूल कुछ थोड़ी बात नहीं है तथा इस भ्रम के होने से ही हम लोगों की जन्त्री की गणना के साथ दृष्ट फल की एकता की सम्भावना नहीं है। हम लोगों की जन्त्री में इस भ्रम के संशोधन की आवश्यकता है। परन्तु यह प्रश्न होता है कि कौन संशोधन करेगा?

क्रान्तिपात की गति साल-भर में पश्चिम की ओर लगभग ५०। विकला है और मन्दोच्च की पूर्व की ओर गति प्रायः ११। विकला है। दोनों स्थल हर साल ६१॥ विकला के हिसाब से परस्पर में दूर हो रहे हैं। इस समय साल में शीतार्ध ग्रीष्मार्ध से ७ दिन कम होता है, कुछ समय में शीतार्ध और भी कम हो जायगा। हम लोगों की जन्त्री के अनुसार मन्दोच्च की वार्षिक गति बहुत थोड़ी है परन्तु क्रान्तिपात की गति ५४ विकला मानी

जाती है। अतएव साधारणतः ७॥ विकला का साल में अन्तर पड़ता जाता है। हम लोग मन्दोच्च की गति प्रकृत की अपेक्षा कम लेते हैं तथा क्रान्तिपात की अधिक लेते हैं। एक भूल दूसरी भूल को कुछ-कुछ संशोधित कर रही है।

इस बात की स्वयं इच्छा उत्पन्न होती है कि प्राचीन समय में भारतवर्ष में दिवारात्रि के घटने-बढ़ने को किस प्रकार मानते थे। पृथ्वी का निरक्षवृत्त रविमार्ग के साथ समतल पर नहीं है। पृथ्वी जिस ध्रुवरेखा के चारों ओर घूम रही है वह रेखा पृथ्वी के वार्षिक भ्रमण-मार्ग पर लम्बभाव से नहीं है। यदि पृथ्वी को एक लट्टू माना जाय, और यदि उसका भ्रमणमार्ग मेज़ की सतह पर माना जाय तो लट्टू की डण्डी ठीक लम्बभाव से न रह कर कुछ एक ओर झुकी रहती है। इस अवनति का परिमाण २३॥° डिगरी है। प्राचीन ज्योतिष के अनुसार २४° डिगरी है। यदि यह अवनति न होती तो बारहों महीने दिन-रात बराबर होते तथा इनमें घटा-बढ़ी न होती। इस अवनति के सबब से सूर्य्य छः महीने निरक्षवृत्त के उत्तर और छः महीने निरक्षवृत्त के दक्षिण रहता है। १०वीं चैत्र को निरक्षवृत्त लाँघ कर क्रमशः उत्तर की ओर सूर्य्य अग्रसर होता है और तीन महीने में २३॥° डिगरी पर पहुँचता है। फिर वहाँ से १०वीं आषाढ़ को दक्षिण की ओर लौटता है और तीन महीने बाद अर्थात् १०वीं आश्विन को फिर निरक्षवृत्त को लाँघता है। ठीक उपर्युक्त प्रकार से फिर १०वीं आश्विन से लेकर १०वीं पौष तक तीन महीने में २३॥° डिगरी दक्षिण की ओर जाता है और

फिर उत्तर ओर लौटता है अर्थात् १०वीं चैत्र को फिर निरक्ष-वृत्त को तय करता है।

सूर्य्य के इस छः महीने उत्तरायण और छः महीने दक्षिणायन होने से दिवारात्रि का ह्रास और वृद्धि तथा ऋतुपरिवर्तन होता है। सूर्य्य के निरक्षवृत्त का दूरत्व ज्ञात होने पर यह सहज में जाना जा सकता है कि पृथ्वी के किस स्थान पर कब कितनी बड़ी रात तथा कितना बड़ा दिन होता है। इसके जानने के लिए कुछ ज्यामिति का प्रयोग करना पड़ता है।

अब तो स्कूल के लड़के तक जानते हैं कि निरक्षवृत्त पर बारहों महीना दिन, रात के बराबर होता है और मेरुप्रदेश में दिन छः महीने का और रात छः महीने की होती है। इस विषय में प्राचीन समय के लोगों का सिद्धान्त जानने के लिए भास्कराचार्य्य की युक्ति, गोलाध्याय से, नीचे उद्धृत की जाती है।

"जब तक सूर्य्य निरक्षवृत्त के उत्तर रहता है तब तक उत्तर देश में सूर्य्योदय निरक्षदेश से कुछ पहले होता है तथा सूर्य्यास्त निरक्षदेश से कुछ पीछे होता है।" (निरक्षवृत्त पर सर्वदा सूर्य्योदय छः बजे होता है तथा सूर्यास्त भी छः बजे होता है। अतएव निरक्षवृत्त के उत्तर दिवामान १२ घण्टे से अधिक और रात्रि-मान १२ घण्टे से कम होता है।)

"सूर्य्य जब निरक्षवृत्त से दक्षिण रहता है तब इसके ठीक विपरीत होता है।"

"निरक्षवृत्त पर सर्वदा दिन-रात बराबर होते हैं।" "जो

स्थान कुमेरु और सुमेरु से २४ अंश से कम है, वहाँ पर बड़ी आश्चर्य्यजनक घटना होती है।"

"मान लो, एक स्थान सुमेरु से १० अंश की दूरी पर है। निरक्षवृत्त से सूर्य्य जब तक १० अंश उत्तर रहेगा तब तक वहाँ सूर्य्यास्त न होगा तथा तब तक वहाँ दिन ही बना रहेगा, रात न होगी। इसी लिए मेरुप्रदेश में लगातार छः महीने का दिन होता है और छः महीने की रात।"

"देवगण सुमेरु पर रहते हैं और कुमेरु में राक्षसों का निवास है। निरक्षवृत्त दोनों की क्षितिज रेखा है।"

"(१०वीं चैत्र से १०वीं आश्विन तक) छः महीना सूर्य्य निरक्षवृत्त के उत्तर अर्थात् देवताओं की क्षितिज-रेखा के ऊपर रहता है—क्षितिज के नीचे नहीं जाता। अतएव अस्त नहीं होता। पुनः (१०वीं आश्विन से १०वीं चैत्र तक) छः महीनों तक सूर्य्य निरक्षवृत्त के दक्षिण अर्थात् दैत्यों की क्षितिजरेखा के ऊपर रहता है। अर्थात् देवताओं के क्षितिज से नीचे रहता है)।"

"सूर्य्य जब देख पड़ता है तब दिन और जब नहीं देख पड़ता तब रात होती है।" (अर्थात् चैत्र से क्वार तक सुमेरुस्थित देवताओं का दिन तथा कुमेरु पर रहनेवाले दैत्यों की रात होती है और आश्विन से चैत्र तक छः महीने दैत्यों का दिन तथा देवताओं की रात होती है।)

बालकों को जो अँगरेज़ी पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनमें या उनके अनुवाद—हिन्दी पुस्तकों—में दिवारात्रि के ह्रास-वृद्धि तथा मेरुस्थल में छः महीने के दिन-रात के होने का कारण जिस

प्रकार समझाया रहता है उससे भास्कराचार्य्य की रीति अधिक कौशलमय तथा सरल ज्ञात होती है। हमारी समझ में यदि इस रीति का अवलम्बन किया जाय तो बालकों की समझ में यह बात बहुत जल्द आ सकती है तथा सरलता से समझाई जा सकती है।

वर्ष में छः महीने (दक्षिणायन) तक देवता सोते हैं तथा छः महीने (उत्तरायण) तक जागते हैं। पुराणादि में इसी प्रकार की कथायें लिखी पाई जाती हैं। आशा है कि पाठकों को अब इसका ज्योतिष्क तात्पर्य्य ज्ञात हो गया होगा तथा इसका भी मर्म सरल हो गया होगा कि हम लोगों के एक वर्ष की देवताओं की एक अहोरात्रि होती है।

ज्योतिष के मतानुसार आश्विन से लेकर चैत्र तक सुमेरु में देवताओं की रात्रि होती है। परन्तु हम लोगों के धर्म्मशास्त्र में इसके विषय में आषाढ़ से पौष तक लिखा हुआ पाया जाता है। यहाँ पर इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं ज्ञात होती कि ज्योतिष की उक्ति अर्थयुक्त तथा युक्तिसङ्गत है। ज्योतिष से धर्म्मशास्त्र के इस भेद का वर्णन करते हुए भास्कराचार्य्य धर्म्मशास्त्रकारों पर कुछ तीव्र कटाक्ष करने से बाज़ नहीं आये।

भास्कराचार्य्य ने मेरुप्रदेश के पास वाले देश की दिवारात्रि के परिमाण के निकालने का एक बहुत उत्तम उपाय बतलाया है। सूर्य्य के विषुवसंक्रमण के दिन (आजकल जो १० वीं चैत्र को होता है) सुमेरु में प्रथम प्रथम दो सूर्य्य दिखलाई देते हैं। इसके पश्चात् पहले महीने में सूर्य्य निरक्षवृत्त के ११ अंश ४५ कला

उत्तर जाता है, इसके बाद दूसरे महीने में २० अंश ४० कला तक जाता है और तीसरे महीने में २४ अंश तक जाता है (वास्तव में २३ अंश २८ कला तक जाता है)। इसके बाद सूर्य्य और उत्तर की ओर अग्रसर नहीं होता और क्रमशः दक्षिणवर्त्ती होने लगता है। दक्षिण की ओर लौटने में चौथे महीने में २४ अंश से २० अंश ४० कला तक, पाँचवें में ११ अंश ४५ कला तक और छठवें में निरक्षवृत्त पर आ जाता है। उस समय सुमेरु में सूर्य्यास्त होता है। अतएव सुमेरु बिन्दु में छः महीने तक बराबर दिन रहता है। सुमेरु से ११ अंश ४४ कला दूर देश में (ग्रीनलैंड का उत्तर भाग, स्पिट्ज़रबर्गेन द्वीप का अधिकांश भाग) बराबर ४ महीने तक (१०वीं वैशाख से १० वीं भाद्र तक) या उससे कुछ अधिक काल तक दिन होता है। सुमेरु से २० अंश ४० कला दूर देश में (ग्रीनलैंड का मध्यभाग, जो नवोज़ेम्लाद्वीप और सैवेरिया का उत्तरी भाग है) दो महीने से अधिक का दिन होता है (१० वीं ज्येष्ठ से १० वीं श्रावण तक)। कहने का तात्पर्य्य यह है कि सुमेरु से किसी स्थान की दूरी के ज्ञात रहने पर वहाँ का दिनमान सहज में निकाला जा सकता है।

यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रकार का हिसाब लगाने में गोलमिति Spherical Trigonometry की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। भास्कराचार्य्य के पूर्ववर्त्ती पण्डितों में बहुतों को गोलमिति में पूरी अभिज्ञता नहीं थी तथा उन्होंने इस हिसाब के लगाने में बड़ी ग़लती की थी। भास्कराचार्य्य ने इन पण्डितों को ख़ूब फटकारा भी है। भास्कराचार्य्य

कहते हैं कि जो ज्योतिषी गणितशास्त्र में विशेषतः गोलशास्त्र में पूरा दख़ल नहीं रखता उसका दूसरे को शास्त्र दिखलाने में प्रवृत्त होना विडम्बनामात्र है।

ज्योतिष-विद्या की एक प्रधान समस्या ज्योतिष्कों की दूरी का भी निर्धारण करना है। इनकी दूरी सूक्ष्मभाव से निकाली जा सकती है, यह बात साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आ सकती। उसका इस विषय में संदेह करना कुछ आश्चर्य्यजनक नहीं। अमुक ग्रह इतनी दूरी पर है, यह कहने से शायद बहुत से इसको पागलपन का तमाशा, या कवित्वमात्र समझ कर, टाल देने से बाज़ न आवें। पर उनकी बात निराली है जो शास्त्र तथा महात्माओं के वचन को बिना चूँ किये मान लेते हैं। वे लोग संख्या की अल्पता या अधिकता को एक-सा हज़म कर सकते हैं। उन लोगों की बुद्धि-वृत्ति की पाचनशक्ति इतनी तेज़ है कि उसमें अग्निमान्द्य की सम्भावना नहीं है। अजीर्ण हो ही नहीं सकता। वैज्ञानिक लोग बड़े परिश्रम से अरण्य भेद कर, समुद्र में ग़ोता लगा कर, यदि किसी तथ्य का आविष्कार कर कुछ स्पर्धा और अहङ्कार से इनके पास जाते हैं तो ये लोग उस बात को कातररहित छिधा-हीन तथा असन्दिग्ध-चित्त हो इस प्रकार मान लेते हैं मानों उनके लिए चिर-परिचित हो अर्थात् उनको यह बात सर्वदा से ज्ञात रही हो और इस प्रकार से वैज्ञानिक महाशय की गर्वराशि, अहङ्कार और स्पर्धा चूर्ण हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि सृष्टिकर्ता ने इनको प्रभूतविनयसम्पन्न बनाया है; परन्तु वैज्ञानिक गुरु इस प्रकार के विनीत शिष्य पर प्रसन्न नहीं ज्ञात होते।

अब ज्योतिष्कों के दूरत्वनिरूपण करने की बात कहता हूँ। ज्योतिष्कों में चन्द्रमा सब से निकट है। जिस प्रकार दूर के एक वृक्ष की दूरी निकाली जाती है उसी प्रकार चन्द्रमा की भी दूरी निकाली जा सकती है। पहले ठीक करो कि किसी ख़ास समय में कलकत्ते में एक मनुष्य चन्द्रमा को किसी एक स्थिर नक्षत्र से कितनी दूरी पर देखता है और ठीक उसी समय मक्का से एक मनुष्य चन्द्रमा को आकाशचक्र में कहाँ पर देखता है। कलकत्ते से मक्के की दूरी मालूम होने पर चन्द्रमा की दूरी निकल सकती है। कलकत्ते और मक्के के चन्द्रमा की अवस्थिति के भेद को अँगरेज़ी में Parallax तथा संस्कृत में लम्बन कहते हैं। इस लम्बन के न जानने से चन्द्रमा की दूरी जानने का और कोई सुगम उपाय नहीं है। प्राचीन समय में भी चन्द्रमा का उदय-कालीन लम्बन निकाल कर दूरी निकाली गई थी। यह निम्न-लिखित प्रकार से भी समझाया जा सकता है। यदि पृथ्वी का व्यास, चन्द्रमा के दूरत्व से तुलना करने पर, कुछ नहीं सा हो तो चन्द्रोदय के समय अर्थात् चन्द्रमा जब क्षितिज के ऊपर रहता है तब चन्द्र आकाश के ऊर्ध्वबिन्दु या स्वस्तिक से ठीक ९० अंश नीचे रहता है परन्तु पृथ्वी का व्यास चन्द्रमा के दूरत्व से तुलना करने पर कुछ नहीं सा नहीं होता। अतएव चन्द्रमा की क्षितिज-रेखा से कुछ ऊपर न रहने से चन्द्रोदय हम लोगों को नहीं ज्ञात होता। चन्द्रोदय के समय स्वस्तिक से उसकी दूरी ९० अंश से कुछ कम रहती है। यह भेद चन्द्र का तत्कालीन लम्बन है। इसके बाद पृथ्वी के व्यास का आधा मालूम रहने पर चन्द्रमा

की दूरी के निकालने में देर नहीं लगती। प्राचीन समय में उपर्युक्त प्रकार से चन्द्रमा की दूरी निकाली जाती थी।

सूर्य्यसिद्धान्त के मतानुसार चन्द्रमा का उदयकालीन लम्बन ५३ कला तथा पृथ्वी का व्यासार्ध ८०० योजन है। इस हिसाब से चन्द्रमा का भ्रमणपथ ३२४००० तीन लाख चौबीस हज़ार योजन तथा चन्द्रमा की दूरी लगभग ५१,५७० योजन है। आधुनिक समय में चन्द्रमा की जो दूरी मानी जाती है उससे इस दूरी का मिलान करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि कितने योजन का एक मील होता है। परन्तु कह नहीं सकते कि ऐसा कोई उपाय है कि नहीं जिससे यह जाना जा सके कि इस सूर्य्यसिद्धान्त का योजन कितने मील के बराबर है। यह तो निश्चित ही है कि यह योजन हम लोगों के चार कोस के बराबर नहीं है। आर्य्यभट्ट ने जिस योजन को लिखा है वह चार कोस के बराबर है। इस बात का उल्लेख हो चुका है कि प्राचीन ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी की परिधि कितने योजन है।

सूर्य्यसिद्धान्त के मतानुसार पृथ्वी के व्यासार्ध के ८०० वें हिस्से का नाम एक योजन है। इस प्रकार के योजनपरिमाण का निर्देश करना कुछ कौतुक-जनक ज्ञात होता है। एक सौ वर्ष व्यतीत हुए, फ़रासीसियों ने भी इसी प्रकार से Metre माना था। फ़रासीसियों का Metre पृथ्वी के चौथे हिस्से का (अर्थात् निरक्षवृत्त से मेरु तक दूरी का) करोड़वाँ हिस्सा है। ख़ैर जो हो, सूर्य्यसिद्धान्त के मतानुसार पृथ्वी का व्यासार्ध ८०० योजन है और परिधि ५०५६ योजन। पहले प्रबन्ध में कहा जा चुका है कि

आर्य्यभट्ट के मतानुसार पृथ्वी की परिधि अँगरेज़ी २५०८० मील है। सम्भव है कि आर्य्यभट्ट के पृथ्वी के परिमाण के विषय में सूर्य्य-सिद्धान्त के मत में कुछ भेद हो। परन्तु यथार्थ में भास्कराचार्य्य का माना हुआ भूपरिधि का परिमाण सूर्य्यसिद्धान्तोक्त परिमाण से कुछ कम है। उस समय प्राचीन शास्त्रोक्त को अभ्रान्त मान लेने की प्रथा नहीं थी। उस समय प्राचीन उक्ति का संशोधन करने में लोग प्रयत्नशील होते थे। ख़ैर जो हो, यदि ५०५९ योजन को २५०८० मील मान लें तो चन्द्रमा की दूरी ५१,५७० योजन अर्थात् लगभग २,५५,००० दो लाख पचपन हज़ार मील होती है। अँगरेज़ों के मतानुसार चन्द्रमा की दूरी औसतन २,३८,००० दो लाख अड़तीस हज़ार मील होती है। पाठकगण दोनों अङ्कों की स्वयं तुलना कर लें तथा इसके साथ ही साथ अनुग्रहपूर्वक उस समय के साथ आधुनिक समय की भी तुलना करना न भूल जायँ।

चन्द्रमा की दूरी ज्ञात रहने पर, चन्द्रमा कितना बड़ा है, यह बहुत सरलतापूर्वक निकल सकता है। चन्द्रमा इतनी दूरी पर है कि उसका मण्डल आकाश में ३२ कला व्याप्त रहता है अर्थात् सूर्य्यमण्डल के लगभग होता है। चन्द्रमा के भ्रमणपथ का परिमाण जो ३६० डिगरी व्याप्त है ३,२४,००० योजन है। अतएव त्रैराशिक के हिसाब से चन्द्रमा का व्यास, जो केवल ३२ कला व्याप्त है, ४८० योजन है। पूर्वमतानुसार ४८० योजन लगभग २३८० मील होता है। आधुनिक मत में चन्द्रमा का व्यास २१६० मील है।

पहले इस बात का उल्लेख हो चुका है कि लम्बन अथवा

Parallax से चन्द्रमा की दूरी तथा आयतन निकाला जा सकता है। सूर्य्यसिद्धान्त के मतानुसार चन्द्रमा का उदयकालीन लम्बन प्रायः ५३ कला है और आधुनिक समय में चन्द्रमा का लम्बन ५७ कला दिखलाई देता है। कलाओं का यह भेद होने के कारण आधुनिक गणना से प्राचीन गणना में भेद पड़ता है। उस समय के प्राचीनत्व तथा यन्त्रादि की अवस्था का मिलान करने से भेद न होने के बराबर है।

चन्द्रमा के सम्बन्ध में एक और बात कहने की आवश्यकता जान पड़ती है। हम लोगों को ज्ञात है कि चन्द्रमा का केवल एक पृष्ठ सर्वदा पृथ्वी की ओर रहता है। जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य्य के चारों ओर एक बार घूमने में अपनी ध्रुवरेखा या अक्षरेखा पर ३६६। बार घूमती है, उस प्रकार चन्द्रमा नहीं घूमता। जितने समय में चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर एक चक्कर लगाता है उतने ही समय में वह अपनी ध्रुवरेखा पर भी एक चक्कर लगाता है। इसके विषय में गोलाध्याय में एक युक्ति का उल्लेख है। चन्द्रमा की दूसरी ओर, अर्थात् जिस भाग को हम लोग कभी नहीं देख सकते उस पृष्ठ पर, पितृगण निवास करते हैं। हम लोगों के अमावास्या के दिन पितृगणों का मध्याह्न काल होता है। उस समय सूर्य्य उनके सिर के ठीक ऊपर रहता है और हम लोगों की पौर्णमासी को उनकी आधी रात होती है। हम लोगों का एक चान्द्र मास उनके एक रात-दिन के बराबर है। चन्द्रलोक-वासी पितृगणों का दिवामान तथा रात्रिमान हम लोगों के एक एक पक्ष के बराबर होता है। वास्तव में बात ऐसी ही है।

आर्य्य-जाति

हम लोगों के प्राचीन पौराणिक इतिहास में एक प्रकार की किंवदन्ती है कि ब्रह्मा ने अपने मस्तक से ब्राह्मण की, वक्षोदेश से क्षत्रिय की, जाँघ से वैश्य की तथा पैर से शूद्र की सृष्टि की है। पृथ्वी पर इन चार जातियों के अतिरिक्त पाँचवीं जाति नहीं है तथा इन प्राचीन चार जातियों ही से वर्तमान सहस्र-जातीय मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है। एक और बात है। इन चार जातियों के मनुष्यों में ब्राह्मण शुक्ल वर्ण (गोरे) तथा मस्तिष्क में श्रेष्ठ हैं; क्षत्रिय रक्तवर्ण (लाल) तथा बाहुबल में श्रेष्ठ हैं; वैश्य पीतवर्ण (पीले) हैं तथा कृषिवाणिज्यादि कार्य्य में उनका कोई जोड़ नहीं है, और कृष्णवर्ण शूद्र के जीवन का एकमात्र अवलम्बन दासत्व है। जातिभेद का मूल यह वर्णभेद है तथा भारतवर्ष की भाषा में आज तक जाति शब्द के पर्य्याय में वर्ण शब्द का प्रयोग होता है।

इस पौराणिक आख्यान पर विचार करने से इसकी सत्यता पर आश्चर्य्य होता है। आज तक संपूर्ण मनुष्य-जाति को साधारणतः चार जातियों में विभक्त करने की प्रथा वर्तमान है। काकेशीय जाति—आर्य्य-जाति जिसकी प्रधान शाखा है, जो अपने सफ़ेद चमड़े और भारी शिर के लिए विख्यात है तथा पृथ्वी पर आन्दोलन मचा रही है। आदिम अमेरिका-निवासी,

ताम्र या रक्तवर्ण के, भूगोल में विख्यात हैं। इतिहास के देखने से ज्ञात होता है कि महाभाग्यवान् खीष्टानों के शुभ पदार्पण के पहले अमेरिकावासियों ने मिश्र, कालडिया तथा यूनान से कुछ सम्बन्ध न रखते हुए भी बड़े-बड़े साम्राज्यों को स्थापन किया था। मङ्गोल-जातीय चीना लोगों का प्रधान चिह्न पीतवर्ण है। सुना जाता है कि इन्हीं चीना लोगों ने पहले-पहल दिग्दर्शन-शलाका (कुतुबनुमा) का तथ्य आविष्कार करके समुद्रयात्रा सुगम की थी। मनुसंहिता में शूद्र के प्रति निग्रह तथा उत्पीड़न की व्यवस्था को देख कर हम लोगों का अन्तरात्मा चाहे जितना व्यथित क्यों न हो, किन्तु इस समय भी वही व्यवस्था है। देखिए न, कृष्णकाय हवशी श्वेताङ्गों के दासत्व में जीवन-यापन कर रहे हैं। यह कठिन समस्या वर्तमान शताब्दी में भी उपस्थित है।

इस विषय में सन्देह करने का कोई कारण नहीं जान पड़ता कि हम लोगों की प्राचीन पौराणिक आख्यायिका की इस प्रकार युक्तिसङ्गत और वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है। परन्तु इस प्रबन्ध में उस आलोचना को छोड़ कर इसी की आलोचना की जायगी कि चारों वर्णों में श्रेष्ठ शुक्लवर्ण मनुष्य-जाति के सम्बन्ध में आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणा कहाँ तक हो सकती है।

लड़कपन से हम लोगों को याद कराया जाता है कि अँगरेज़, ग्रीक, जर्म्मन, पार्सी, और हिन्दू एक ही मानववंश से उत्पन्न हुए हैं तथा परस्पर ज्ञातिसूत्र से आबद्ध हैं। यह प्राचीन मानववंश एक विशेष सुगठित सुन्दर भाषा में बातचीत करता था, एक

देवता की पूजा करता था तथा कास्पीय सागर के किनारे या पामीर पर्वतोच्चभूमि (प्लेटो) के निकट के देश में निवास करता था। कालान्तर में वंश बढ़ जाने से, या पास की जातियों के आक्रमण से या खाद्य द्रव्यों के अभाव से, पुराने निवासस्थान को छोड़ कर कोई पश्चिम की ओर चले गये, कोई पूर्व की ओर; और बृटिशद्वीप से लेकर यवद्वीप पर्य्यन्त सम्पूर्ण भूभाग पर समयान्तर में फैल गये। उन उन प्रदेशों के आदिम वासियों को इन विदेशी अतिथियों के आगमन से सर्वत्र सन्तोष नहीं हुआ। उन लोगों को अतिथिसत्कार में अपने गाय-बैल तथा रहने की जगह तक समर्पण करने पर भी त्राण नहीं मिला। यहाँ तक कि बहुत से लोगों ने निष्काम भाव से अपनी अस्तित्व-वार्ता को भी लुप्त कर दिया है। वर्तमान समय में पुरातत्त्व-वेत्ताओं के बहुत परिश्रम तथा गवेषणा करने पर भी उसका उद्धार होते नहीं देख पड़ता। खैर जो हो, श्वेतकाय लोगों की यह आतिथ्यग्रहणस्पृहा अभी तक पहले की तरह बलवती देख पड़ती है। परन्तु इस क्षुद्र धरा में विधाता ने इतने बड़े सहारा देश को मरुभूमि और मेरुप्रदेश को हिमभूमि करके उन लोगों के रहने की परिधि को संकीर्ण कर दिया है। विधाता के इस निष्करुण कार्पण्य की सुचारु व्यवस्था नहीं मिलती।

हम लोगों के पञ्चनदवासी पुरखे अपने को आर्य्य कहते थे तथा सर विलियम जोन्स के बाद यूरोपीयगण भी अपने को, हम लोगों की ज्ञाति साबित कर, आर्य्य कहने लगे हैं। हम लोगों में से कोई-कोई, अँगरेज़ों को आर्यजाति के अन्तर्गत मानने के लिए

तैयार नहीं। औरों के सम्बन्ध में कुछ भी हो, किन्तु अँगरेज़ तो ज़रूर ही वानरों के वंशधर हैं,—डारविन के इस मतांश को मानने के लिए ये सानन्द प्रस्तुत हैं। इस प्रस्ताव में अँगरेज़ तथा अन्यान्य यूरोपीयगणों का आर्य्यत्व स्वीकृत होगा और पाश्चात्य पण्डितों के आर्य्य शब्द का अर्थ ही ग्रहण किया जाता है।

इस स्थान पर यूरोपीयगणों के आर्य्यत्वाधिकार के विषय की युक्ति की कुछ आलोचना करना आवश्यक जान पड़ता है। सब से प्रधान तथा प्रबल युक्ति भाषा की एकता है। निस्सन्देह परिणाम में अँगरेज़, जर्म्मन, पञ्जाबी, बङ्गाली एक ही भाषा में बातचीत करते हैं। यदि भाषागत एकता के मूल में शोणित-गत या जाति-गत एकता न हो तो यह सारा रहस्य किसी काम का नहीं। क्योंकि ऐसा न करने से इसके माने ही कुछ नहीं होते। और भी, अँगरेज़ी और हिन्दी भाषा में सादृश्य और भेद की पर्य्यालोचना करने पर, अँगरेज़ों और हिन्दुस्तानियों के एकत्र रहने के समय की सामाजिक और नैतिक अवस्था के विषय में एक स्थूल सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है। यहाँ तक कि इस भाषाविचार से इन लोगों के आदि-निवासस्थान तक का पता लग सकता है। पर इतना है कि जिस प्रकार किसी सिद्धान्त को समस्त पण्डितमण्डली समभाव से नहीं स्वीकार करती, वैसा ही यहाँ पर भी मतभेद है। सम्पूर्ण आर्य्यभाषा के व्यवच्छेद और तुलना की आलोचना करने पर किसी-किसी पण्डित ने स्थिर किया है कि इनका प्रथम निवासस्थान कस्पियन सागर का दक्षिण भाग था और कोई-कोई स्वीडन का उत्तर बतलाते हैं। (कास्पीय

सागर और स्वीडन) पुरातत्व के इस प्रकार के सामान्य मतद्वैध को देख कर विचलित होना कापुरुष का लक्षण है।

इस भाषागत सादृश्य तथा पार्थक्य की आलोचना कर वर्तमान आर्य्यजातीय मनुष्यों को छः शाखाओं में विभक्त किया जाता है। छः शाखाओं में से चार यूरोप में और दो एशिया महादेश में रहती हैं। यूरोप में केल्ट, ट्यूटन, ग्रीक-रोमन, और स्लाव तथा एशिया में पारसी और हिन्दू, इन छः शाखाओं से आर्य्यजातिरूप महावृक्ष बनता है। इसका मूल कास्पीय सागर के दक्षिण या स्वीडन का उत्तर था। इसकी शाखा-प्रशाखायें सम्पूर्ण यूरोप, दक्षिण एशिया तक फैल कर अब सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैलने का प्रबन्ध कर रही हैं। इसकी छाया के आश्रय में धरातल "सुशीतल" हो रहा है। इसकी शोभा, ऐश्वर्य्य और समृद्धि की पृथ्वी पर तुलना नहीं हो सकती। इस आर्यजातिरूप महावृक्ष की छाया में और जितनी अनार्यजातियों के छोटे-छोटे पौधे उग चले हैं उनके लिए यह महावृक्ष हानिकर ही है, क्योंकि प्रकृति का नियम ही यह है कि एक बड़े वृक्ष के नीचे का पौधा कभी पूरी तरह नहीं बढ़ता और न फलता-फूलता है।

यह सिद्धान्त स्थूलतया सर्वसम्मत है। इसकी यथार्थता में सन्देह करने का सम्यक् कारण अभी तक नहीं आविष्कृत हुआ है; परन्तु, सूक्ष्म विचार करने से कई एक सन्देह उपस्थित होते हैं।

बहुत प्राचीन समय में किसी विशेष देश में एक विशेष लक्षणयुक्त मानववंश निवास करता था। उस वंश में परस्पर

शोणितगत तथा जातिगत सम्बन्ध था अर्थात् वे पीले रङ्गवाले मंगोल, काले हबशी तथा लालवर्ण अमेरिकन लोगों से स्वतन्त्र जीव थे। मान लो उस जाति का नाम "आर्य्यजाति" था। वे एक विशेष भाषा में अपने मन के भाव को प्रकट करते थे। वह भाषा सर्वतोभाव से उनकी जातीय सम्पत्ति थी। मान लो उसका नाम "आर्य्यभाषा" था। इसके अतिरिक्त उनके आचार, व्यवहार, नीतिधर्म्म इत्यादि में भी एक स्थूल एकता थी। अतएव उस प्राचीनधर्म्म को "आर्य्यधर्म्म" मान लो। वह आर्य्यभाषाभाषी, आर्य्यधर्म्मावलम्बी आर्य्यजाति कालान्तर में सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैल गई और आधुनिक समय में पृथ्वी के सर्वप्रधान मनुष्यों में अधिकांश, उन्हीं प्राचीन आर्य्यों की सन्तान हैं तथा कालकृत परिवर्तन के होने पर भी उसी प्राचीन आर्य्यभाषा में बातचीत करते हैं और उस प्राचीन आर्य्यधर्म्म के रूपान्तर से माननेवाले हैं। स्थूलतः यहाँ तक सन्देह करने का कोई कारण नहीं ज्ञात होता। परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर कई एक नये प्रश्न होते हैं तथा उनकी मीमांसा की आवश्यकता उपस्थित होती है। आधुनिक समय में जो आर्य्यभाषा में बातचीत करते हैं और अपने को आर्य्य कहते हैं वे वास्तव में आर्य्य कहलाने के अधिकारी हैं या नहीं? प्राचीन आर्य्यजाति पृथ्वी में फैलने से पहले किसी न किसी स्थान पर निवास करती थी। वह कौन सा स्थान है? प्राचीन आर्य्यजाति किसी समय उस स्थान को त्याग कर दिगन्त में फैलने लगी होगी। ऐसा कब होने लगा था?

इन कई प्रश्नों का उत्तर देना सहज नहीं है। भाषातत्त्व की

आलोचना से जिस प्रकार इसका उत्तर मिलता है उसमें कुछ सन्देह होता है।

भाषागत ऐक्य से जातिगत ऐक्य के मानने पर बहुत स्थलों में ग़लती हो जाती है। भाषापरिवर्तन पृथ्वी के इतिहास की नित्य-घटना है। आधुनिक इतिहास में पुनः पुनः देखा जाता है कि कभी-कभी कोई-कोई कुल या जाति अकस्मात् अपनी भाषा का परित्याग कर दूसरे की भाषा में वार्त्तालाप करने लगती है। बहुधा विजित जाति विजेतृ जाति की भाषा ग्रहण कर अपने को गौरवान्वित समझने लगती है। आधुनिक स्पेन तथा फ्रांस की भाषा लैटिन से उत्पन्न हुई हैं। परन्तु फ़रासीसी और स्पेनिश जाति रोमन से उत्पन्न नहीं हुई है। उन देशों के रहनेवालों ने रोम-साम्राज्य की अधीनता के समय रोमन भाषा को ग्रहण किया था। उत्तर से आये हुए ख़ास जर्म्मन तथा नारवे-निवासियों ने फ्रांसीसी भाषा को ग्रहण किया था। वेल्स और आइरिश जाति अब क्रमशः अपनी भाषा का परित्याग कर अँगरेज़ी भाषा को ग्रहण कर रही है। बहुतेरे स्थानों में हबशियों ने अपने श्वेतांग प्रभुओं से खीष्ट धर्म्म के साथ-साथ उनकी भाषा भी ग्रहण कर ली है। अमेरिका देश में लाल, श्वेत तथा काले इन तीन वर्णों के समन्वय से जो अपूर्व वर्णसंकर की सृष्टि हुई है वह यूरोपीय भाषा में वार्त्तालाप करती है। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं। अब हम लोगों में से ही बहुत से हिन्दी भाषा में लिखने और बोलने में लज्जित होते हैं!

यह सब देख कर केवल भाषा की सहायता से जाति-विचार

करने में प्रवृत्त होने पर बहुत स्थानों में धोखा खाना पड़ता है। अमुक व्यक्ति संस्कृतमूलक हिन्दी में बातचीत करता है, अतएव वह आर्य्यसन्तान है और अमुक पुरुष अँगरेज़ी बोलता है अतएव वह आर्य्य ट्यूटन है, इस प्रकार का विचार अयुक्त और असंगत है।

अतएव जातिविचार करने के लिए दूसरे उपाय का अवलम्बन आवश्यक जान पड़ता है। केवल यह जानने से काम नहीं चलेगा कि मनुष्य किस भाषा में बातचीत करता है। किस रंग का है, मुँह गोल है या लम्बा, बाल कोमल हैं या कड़े, आँखें काली हैं या कञ्जी, नाक लम्बी है या चपटी;—इनकी भी जाँच करनी होगी। इन बातों का विचार कर सम्पूर्ण मानवजाति को मानव-तत्त्वज्ञों ने कई वर्णों में विभक्त किया है।

आधुनिक समय में सम्पूर्ण यूरोपीयगण आर्य्यभाषा में बातचीत करते हैं। सिर्फ़ पिरीनीस पर्वत के पास बास्क नामक क्षुद्र जाति, उत्तर रूस की लाप जाति और फिन जाति के कुछ लोग जिस भाषा में वार्त्तालाप करते हैं वह आर्य्यभाषा नहीं है। साधारणतः यूरोप में सभी आर्य्यभाषाभाषी हैं और इसी से सभी आर्य्य कहे जाते हैं। परन्तु आकार-अवयव के मिलान करने से विभिन्न प्रदेशों में इतनी विभिन्न बनावट के लोग दृष्टिगोचर होते हैं कि उन सबों को एक वंश की सन्तान मानने में जीवविद्या राज़ी नहीं देख पड़ती। यूरोप के दक्षिण अंश के भूमध्य सागर के किनारों पर रहनेवालों की आकृति कुछ नाटी, बाल काले, आँखें काली, रङ्ग कुछ मटीला, और मुँह किसी का

गोल तथा किसी का लम्बा होता है। उत्तर में रहनेवालों की बनावट अनेकांश में भिन्न है। उनका डील लम्बा और भुजाएँ लम्बी हैं। रङ्ग सफ़ेद तथा चेहरे को गोल कहना भूल जान पड़ता है। बाल पके अँगरेज़ी काव्य के अनुरोध से सुवर्णवर्ण-पर हम लोगों के विचार में भूरे—तथा आँखें नीली होती हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे भी बहुत मनुष्य देखे जाते हैं जिनकी बनावट में दोनों जाति के लक्षण कुछ-कुछ हैं। ये लोग निस्सन्देह दोनों जातियों की मिलावट से उत्पन्न हुए हैं। मध्य यूरोप में इन लोगों की अधिक संख्या है।

यह सब देखने से अनुमान होता है कि वर्तमान यूरोपीयगण तीन नहीं तो दो विभिन्न वंशों से उत्पन्न हुए हैं। ज्ञात होता है कि उत्तर के ही रहनेवाले साधारणतः आर्य्य हैं। सर्वत्र आर्य्य और अनार्य्य का परस्पर कुछ-कुछ मिश्रण हो गया तथा सर्वत्र थोड़ा-बहुत सङ्कर जाति का आविर्भाव हुआ है। सन्देह का विषय है कि ख़ालिस आर्य्य और अनार्य्य की संख्या अधिक है या नहीं।

अँगरेज़ लोग अपने को आर्य्य ट्यूटन कहते हैं। वेल्स, कार्नवाल, और स्काटलैंड के उत्तर भाग तथा आयरलैंड के पश्चिमी भाग के रहनेवाले केल्टिक भाषा बोलते हैं तथा अपने को केल्टिक आर्य्य बतलाते हैं। केल्टिक और ट्यूटैनिक दोनों आर्य्य भाषायें हैं; पर कालान्तर में दोनों भाषाओं में जितना भेद हुआ है उतना भेद होने की सम्भावना केल्ट और ट्यूटन की शारीरिक बनावट में नहीं है। भाषा जितनी जल्दी बदलती है उतनी

जल्दी शारीरिक बनावट नहीं बदलती। तीन देशों—इँगलैंड, स्काटलैंड तथा आयरलैंड—के रहनेवालों की एक बनावट होनी चाहिए, नहीं तो इनके आर्य्यत्व में सन्देह होता है। परन्तु देखा जाता है कि वास्तव में इन तीनों देशों के रहनेवालों में बहुतों की बनावट में आर्य्येतर लक्षण विद्यमान हैं। विशुद्ध आर्य्यभाषा में बातचीत करनेवाले बहुत से अँगरेज़ तथा आइरिश नाटे होते हैं; उनका सिर गोल तथा बाल और आँखें काली होती हैं। इन सब के देखने से इनके आर्य्यत्व में सन्देह होता है।

इँगलैंड के पुरातत्त्व की आलोचना करने पर निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं। अति प्राचीन समय में, जिसका ठीक समय संख्या से प्रकाशित नहीं किया जा सकता, इँगलैंड यूरोप से मिला हुआ था। इनके बीच में समुद्र नहीं था। उस समय यूरोप तथा इँगलैंड में भी खर्वाकृति जातिविशेष निवास करती थी। वे लोग पत्थर से शिकार तथा युद्ध करते थे। एक समय सम्पूर्ण यूरोप बर्फ़ से ढक गया था। इस आकस्मिक हिमोत्पत्ति का ठीक कारण अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। इस बर्फ़ के अत्याचार से उनमें से बहुतों का अस्तित्व लुप्त हो गया। उस समय वहाँ से बहुत लोग दक्षिण की ओर भाग गये। समयानुसार उस बर्फ़ के गलने से महादेशव्यापी बर्फ़ के आवरण की परिधि संकीर्ण होने लगी। अब तक वह बर्फ़ सर्वत्र गला नहीं है। अब भी पहले की तरह आल्प्स पर्वत की चोटी पर बर्फ़ वर्तमान है। आज तक यूरोप का उत्तर मेरुप्रदेश तथा सम्पूर्ण ग्रीनलैंड

साल भर बर्फ़ से ढका रहता है। क्रमशः ठंड कम होने पर तथा उस हिमावरण से यूरोप के मुक्त होने पर फिर वह जीव-जन्तुओं के रहने योग्य हुआ। बर्फ़ दूर होने के साथ ही प्राचीन खर्वाकार मनुष्यजाति क्रमशः उत्तर की ओर अग्रसर होने लगी। उनकी हड्डियाँ म्यामथ जन्तु की हड्डियों के साथ पृथ्वी में पाई जाती हैं। उस समय एक और दूसरी जाति आकर यूरोप के दक्षिण भाग में फैल गई तथा उसने पुरानी खर्वाकार जाति को और भी उत्तर खदेड़ दिया। उस समय से ये लोग यूरोप से अलग हो गये हैं। सम्भव है कि वर्तमान खर्वाकार एस्किमो जाति उनकी सन्तानों में से हो। नवागत मनुष्यों ने—जिनकी काली आँखें थीं, बाल काले थे तथा लम्बा सिर था,—दक्षिण यूरोप में अधिकार जमा लिया था। इनकी अवस्था कुछ उन्नत थी। इन लोगों को भी पहले धातु का व्यवहार करना ज्ञात नहीं था। पत्थर काट कर तरह तरह के सुन्दर अस्त्र तैयार करते थे। ज्ञात होता है कि ग्रीक आर्य्यों अथवा हेलिनगणों ने इनको जीत लिया तथा दास बना कर ग्रीस के इतिहास को आरम्भ किया था।

इनके बाद एक और अनार्य्य-जाति ने यूरोप पर अपना आधिपत्य स्थापन किया था। इन्होंने सम्पूर्ण मध्य यूरोप को अधिकार में कर लिया था। इनके भी बाल काले तथा आँखें काली थीं; परन्तु इनका मुँह गोल था। ये लोग क्रमशः सम्पूर्ण यूरोप में फैल गये थे तथा दक्षिणाञ्चल के पूर्वतन दीर्घानन अधिवासियों को अपने में मिला लिया था।

इनके पश्चात् आर्य्य-जाति ने प्रवेश किया। पहले ही आर्य्य-जाति के दैहिक लक्षण का वर्णन कर दिया है। इन लोगों की दैहिक तथा मानसिक अवस्था पहले के लोगों अच्छी थी। ये लोग जहाँ जाते थे वहीं दूसरे लोगों को अपना धर्म्म, अपनी भाषा तथा अपना आचार सिखलाते थे। इससे अनार्य्यों की भाषा तथा धर्म्म का प्रायः सर्वत्र ही लोप हुआ है। परन्तु उनकी शारीरिक बनावट का एकदम से लोप होना सहज नहीं है। सम्भव है कि आर्य्यगण ही भिन्न भिन्न दलों में, भिन्न भिन्न समय में, आये हों। यह पूर्व से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर अग्रसर हुए हैं। प्राचीन मानवों की भाषा तथा धर्म्म का सम्पूर्णतः लोप हो गया है। सम्भव है कि अब वह अनार्य्य भाषा दो-एक स्थानों में छिपी हुई हो। पिरीनीस पर्वत-पार्श्वस्थ वास्क भाषा प्राचीन काल के अनार्य्यों की भाषा है। वास्कभाषी अनार्य्य हैं तथा इन्होंने आर्य्यों के आने से पहले सम्पूर्ण मध्य और दक्षिण यूरोप पर अपना आधिपत्य जमा रक्खा था। इनको आइबिरीय कहते हैं। सचमुच अनार्य्य भाषा लुप्त हो गई है; परन्तु शारीरिक बनावट का मिलान करने पर दक्षिण-यूरोप-निवासी आर्य्यधर्म्मी होने पर भी स्थूलतः अनार्य्य वंशज हैं। मध्ययूरोप के रहनेवाले वर्णसंकर हैं तथा उत्तर यूरोप के स्थूलतः आर्य्य हैं।

भिन्न भिन्न देशों का इतिहास देखने से वहाँ भी इसी प्रकार पाया जाता है। पहले बृटिश द्वीप में अनार्य्य जाति निवास करती थी। वहाँ आर्य्य केल्ट जाति आई और उसको परास्त

कर उसी जाति में मिल गई। अनार्य्य आर्य्यों से नहीं मिले, किन्तु आर्य्य स्वयं आर्य्यों से मिल गये। भाषा पहले अनार्य-वाष्क-जातीय थी; पर पीछे आर्य्य-केल्टिक हुई। इसके पश्चात् रोमनों ने इस आर्य्यभाषा-भाषी अनार्य्य-जाति को परास्त कर खीष्टीय तथा रोमन सभ्यता का प्रचार किया। पर इन लोगों की भाषा तथा शोणित का विशेष प्रभाव वहाँ पर नहीं हुआ। इसके पश्चात् जर्मनी से ख़ालिस जर्मन ने आकर बृटिश द्वीप पर क्रमशः अधिकार किया था और पहले के रहनेवालों से मिल गये। इस कारण पूर्व भाग से केल्टिक भाषा संपूर्णतः लुप्त हो गई; परन्तु आज तक भी पश्चिमाञ्चल तथा उत्तराञ्चल में केल्टिक भाषा विद्यमान है। पूर्वी लोगों में आर्य्यत्व की मात्रा अधिक है तथा पश्चिमी लोगों में अनार्य्यत्व की। स्पेन तथा फ़्रांस देश में वाष्कभाषी अनार्य्य-आइविरीय जाति निवास करती थी। फ़्रांस देश के कुछ अंश में आर्य्य-अधिकार विस्तार के साथ साथ केल्टिक भाषा तथा उनकी रीति-नीति का प्रचार हुआ था। पश्चात् उन देशों में रोमन जाति के आने पर आर्य्य रोमन भाषा का प्रचार हुआ। परन्तु मूलतः शोणित में कुछ भेद नहीं हुआ, वे अनार्य्य ही रहे। फिर रोम-साम्राज्य के पतन तथा जर्म्मन-विप्लव के समय फ़्रांस के पूर्वोत्तर भाग में आर्य्य लोग अधिक मात्रा से आये। आजकल स्पेन के रहनेवाले स्थूलतः अनार्य्यवंशीय आर्य्यभाषी पुरुष हैं। दक्षिण फ़्रांस के रहनेवाले भी ऐसे ही हैं। उत्तर-पूर्व फ़्रांस में स्थूलतः केल्टिक आर्य्य तथा ट्यूटन आर्य्य जाति का निवास है। परन्तु भाषा सर्वत्र आर्य्य रोमन है।

प्राचीन रोमन जाति का निर्णय करना कठिन है। उत्तर से आई हुई गाल जाति ने रोमनों पर कई बेर आक्रमण किया था। उस समय की गाल जाति का विवरण देखने से तथा उसके पश्चात् के इतिहास में जर्म्मनों का विवरण देखने से दोनों जातियों में विशेष पार्थक्य नहीं ज्ञात होता। गाल तथा जर्म्मन दोनों के प्रकाण्ड कलेवर और नीली आँखों की रोमन-ऐतिहासिकों ने ख़ूब प्रशंसा की है। यही गाल लोग परवर्त्ती समय में एशिया-माइनर तक फैल गये थे। ज्ञात होता है कि गाल और जर्म्मन दोनों ख़ालिस आर्य्य थे। पर रोमन वर्णसंकर थे। ये लोग आर्य्य भाषा में वार्तालाप करते थे तथा आर्य्य-धर्म्मावलम्बी थे। ज्ञात होता है कि प्राचीन अनार्य्य आइविरीय जाति के आर्य्यों से, कुछ परिमाण में, मिल जाने से इटली की भिन्न भिन्न संकर जातियों की सृष्टि हुई थी।

ज्ञात होता है कि ग्रीस देश में आइविरीय जाति के गोल मुँहवाले लोगों ने प्रवेश नहीं किया था। वहाँ पर दीर्घाननशाली अनार्य्य ही निवास करते थे। हेलिन आर्य्यों ने आकर इनको जीत कर दास बनाया था। प्राचीन ग्रीस के उच्चसमाज में आर्य्यत्व तथा निम्नसमाज में अनार्य्यत्व की प्रबलता थी। पीछे से ईसाई मत का विस्तार होने पर दोनों मिल गये थे।

जर्म्मनी के दक्षिण भाग में संकर जाति ही की अधिकता है। उत्तर जर्म्मनी तथा स्कान्दिनेविया में शायद पृथ्वी के अन्यान्य स्थानों की अपेक्षा आर्य्यों की संख्या अधिक है।

रूस के पार्श्ववर्त्ती प्रदेश के लोग स्लावनिक भाषा बोलते हैं,

जो आर्य्य भाषा की केवल एक शाखा है, परन्तु हर एक स्लावनिक भाषाभाषी को आर्य्यवंशधर नहीं कह सकते। रूस में वर्णसंकरता की इतनी अधिकता है जितनी पृथ्वी के और किसी स्थान में नहीं है।

भारतवर्ष का भी ठीक इसी प्रकार का इतिहास है। दक्षिण के अधिकांश मनुष्य आर्य्यधर्मावलम्बी हैं; परन्तु वे अनार्य्यभाषी तथा अनार्य्यवंशीय हैं। आर्य्यावर्त्त में उच्चसमाज में आर्य्यत्व तथा निम्नसमाज में अनार्य्यत्व की मात्रा अधिक है। भारत-विजेता आर्य्यों ने अनार्य्यों को शूद्रत्व में परिणत कर इनको समाज में मिला लिया था। परन्तु शूद्र के साथ वे लोग वैवाहिक सम्बन्ध कर सहज में मिलना नहीं चाहते थे, तथापि मिश्रण का निवारण असाध्य था। प्राचीन समय में द्विजातियों की संख्या थोड़ी थी और अब भी थोड़ी है। उस समय शूद्र-कन्या के साथ विवाह करना विधिवत् गिना जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि हम लोग आर्य्यत्व का चाहे जितना अभिमान क्यों न करें; पर सफ़ेद रङ्ग तथा नीली आँखोंवाले मनुष्य हम लोगों के उच्च श्रेणी के ब्राह्मणों में भी दृष्टिगोचर नहीं होते। अब तो हम लोग प्रशस्तललाट, सुदीर्घ आयतन तथा उन्नत-नासा देख कर ही आर्य्यत्व की मात्रा का निर्णय करते हैं। ग्रीष्म का प्रखर सूर्य्यातप चर्म्म-विकार के होने के लिए उत्तरदाता है; परन्तु कुछ कुछ निस्सन्देह वेदमार्गानुयायी हिन्दु-शास्त्र ने कठिन नियम बना कर द्विजाति के विशुद्ध वर्ण की रक्षा करने की यथासाध्य चेष्टा की थी। परन्तु बौद्ध-विप्लव तथा उसके पश्चात् के धर्म्म-

संस्कार और आर्य्य-संस्कार के मिलित यत्न से उस विशुद्ध में बहुत कुछ मिलावट हो गई है। हम लोग मानते हैं कि बौद्ध धर्म्म ने नीच को उच्च आसन प्रदान किया है; परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि उच्च को नीच भी बना दिया है।

इसका निर्णय करना बहुत कठिन है कि इस प्राचीन आर्य्य-जाति का आदि-निवास कहाँ पर था। बहुत प्राचीन समय में मध्य एशिया का पश्चिम भाग विशाल गंभीर महासागर में डूबा हुआ था। भूविद्या इसकी साक्षी देती है। इस महासागर ने यूरोप और एशिया को अलग अलग कर दिया था। इस महासागर में विशाल नद और नदियाँ मध्य यूरोप को प्लावित कर गिरती थीं। ईरान और हिन्दूकुश प्लेटो (अधित्यका भूमि) से बहती हुई बहुत सी बड़ी बड़ी नदियाँ उत्तर की ओर बहती इस महासागर में गिरती थीं। यह महासागर उस समय का भूमध्यसागर था। वर्तमान सैबीरिया तथा उत्तर यूरोप का उत्तरांश उस समय उत्तर महासागर में डूबा हुआ था। सम्भव है कि इस उत्तर महासागर का प्राचीन समय के भूमध्यसागर से संयोग रहा हो। ज्ञात होता है कि इस भूमध्यसागर के पूर्वी किनारे पर प्राचीन पीतकाय तातार या तुराण जाति निवास कर पूर्व एशिया-खण्ड पर आधिपत्य जमा रही थी। उस भूमध्य-सागर के पश्चिम किनारे श्वेताङ्ग आर्य्यगण धीरे-धीरे अपना समाज स्थापित करते थे। ये लोग क्रमशः पश्चिम की ओर अग्र-सर होते हुए वहाँ के निवासियों को दूर करते थे या उनको स्वधर्म्म में दीक्षित कर मिश्र समाज की स्थापना करते थे।

कालान्तर में भूमध्यसागर का निम्न देश भूगर्भगत शक्ति से ऊपर उठने लगा तथा इसके साथ ही साथ महासागर का घेरा भी घटने लगा और उसकी जलराशि उत्तर की ओर बढ़ कर उत्तर महासागर में मिलने लगी। वर्तमान समय में भी ओबी नदी उसी पथानुसार सागर-गर्भ-उत्तोलित सैबीरिया प्रदेश से बहती हुई उत्तर की ओर बह रही है। सागर-गर्भ क्रमशः उत्तोलित हो महादेश में परिणत हुआ है। महासागर क्रमशः सूख कर मैदान में परिणत हुआ है, परन्तु संपूर्ण जल अभी तक सूखा नहीं। बैकाल, बालकश, आराल, कास्पियन तथा कृष्णसागर स्थान-स्थान पर उस प्राचीन महासागर के पुरातन अस्तित्व का परिचय दे रहे हैं। इस समय भी वोलगा, डान्यूब, आमू तथा शिर दरिया पहली तरह पश्चिम यूरोप तथा दक्षिण एशिया में बहती हुई उस महासागर के गर्भ-देश को पूर्ण करने की चेष्टा कर रही हैं।

इस महासागर के गर्भ के उत्तोलित होने से यूरोप एशिया से मिल गया है। ज्ञात होता है कि उस समय पश्चिमीय आर्य्यगणों में कोई स्थल-पथ से ईरान के उत्तर पामीर प्रदेश के नीचे आराल तथा कास्पीय सागर के किनारे पर आये थे। वहीं इन्होंने प्राच्य समाज तथा प्राच्य धर्म्म की स्थापना की थी। उस समय तथा उसके कुछ समय पश्चात् इनसे एशिया-खण्ड की अन्यान्य जातियों का साक्षात्कार हुआ था। वह समय मानवजाति के इतिहास का आरम्भ है। एशिया देश में उस समय प्राचीन विविध मानवसंप्रदाय उन्नतिपथ की ओर आरोहण करने को

चेष्टा कर रहे थे; तथा पूर्व में तातार जाति चीन-साम्राज्य और चीनी सभ्यता की नींव डाल रही थी। दक्षिण-पश्चिम में टाइग्रिस और यूफ्रेटीज़ के किनारे की ऊसर भूमि में कालदीप जाति अपनी गौरव-प्रतिष्ठा की चेष्टा कर रही थी। सुदूर नील नद के किनारे सूर्य्य-पूजा के प्रचार के साथ-साथ ज्योतिष-शास्त्र का मूल आविष्कार हो रहा था।

मध्य एशिया में जल सूखने के साथ-साथ समुद्र-गर्भ से जितनी पृथ्वी निकलने लगी और कहीं उपजाऊ चौरस मैदान, कहीं पर प्लेटो तथा कहीं पर मरुभूमि में परिणत होने लगी, उतना ही अन्नार्थी पीले रंगवाले उग्रस्वभाव मंगोलगण अपनी निवासभूमि को छोड़-छोड़ कर पूर्व की तथा पश्चिम की ओर हटने लगे। ज्ञात होता है कि उन लोगों के अत्याचार से आर्य्यगण दक्षिणवर्ती हो हिन्दूकुश तथा ईरान की अधित्यका का आश्रय ग्रहण करने को बाध्य हुए थे। प्रतापान्वित वेबिलन तथा निनेव के भूपतियों ने इन लोगों को बहुत दिन तक पश्चिम की ओर अग्रसर नहीं होने दिया था। किसी किसी ने पूर्व की ओर ख़ैबर तथा बोलन की घाटियों (Pass) को पार कर सिन्धु के किनारे उपनिवेश स्थापन किया था। उस समय भारतवर्ष में क्षुद्रकाय कोल तथा द्राविड़ीय जाति निवास करती थी। इन लोगों ने क्रमशः आर्य्यसमाज को ग्रहण कर तथा आर्य्यों से मिल कर प्रकाण्ड हिन्दू जाति की सृष्टि की। पश्चिम में मीदिक आर्य्य तथा पारसियों ने वेबिलन को ध्वंस कर बड़े भारी पारसीसमाज की स्थापना की थी। इसके बाद ही से ऐतिहासिक घटनायें हुई

हैं। यहाँ से कल्पना या अनुमान की शरण नहीं लेनी पड़ती। अतएव उसकी इस प्रबन्ध में आलोचना न की जावेगी।

इतिहास के देखने से ज्ञात होता है कि पारसियों का उत्तराञ्चल-वासी सीदिय अथवा शक जाति से बहुधा संग्राम हुआ करता था। ग्रीक ऐतिहासिकों ने सीदियन जाति का विवरण जिस प्रकार दिया है उसके देखने से ज्ञात होता है कि ये लोग आकार अवयव में आर्य्य जाति की तरह थे। संभव है, वे लोग आर्य्य और मंगोल दोनों के मिलने से उत्पन्न हुए हों या अपेक्षाकृत मंगोल या तातार जाति के हों। इस प्रश्न की मीमांसा का कोई उपाय नहीं। आर्य्यों के आक्रमण के पश्चात् शक जाति ने पुनः पुनः भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। नहीं कह सकते कि प्राचीन अयोध्यावासी शाक्य जाति के कुलप्रदीप कुमार सिद्धार्थ के साथ शक जाति का कोई सम्बन्ध था या नहीं। इसके पश्चात् शक जाति वाल्हीक ग्रीक द्वारा स्थापित यवन-राज्य को ध्वंस कर क्रमशः भारतवर्ष में आई थी। महाराज कनिष्क के समय में महाराष्ट्र पर्य्यन्त शक जाति का आधिपत्य था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शक जाति आर्य्यवंशीय है या नहीं। पर इतना अवश्य है कि भारतवर्ष के इतिहास तथा समाज में इनका वास-चिह्न सर्वदा के लिए अंकित हो गया है।

अभी तक मध्य एशिया सूख रहा है। आजकल भी बाज़ बाज़ समय मध्य एशिया से झुण्ड के झुण्ड उग्रस्वभाव वाले पीतवर्ण अनार्य्यगण मनुष्य-सभ्यता का नाश करने के लिए निकलते हैं।

पूर्व में प्रशान्त महासागर से लेकर पश्चिम में अटलांटिक तक के बीच का महादेश उनके डर के मारे चकित तथा संत्रस्त होने लगता है। खीष्टीय चतुर्थ और पाँचवीं शताब्दी में हूण जाति ने पश्चिम की ओर अग्रसर होकर यूरोपवासी आर्य्यों से तुमुल युद्ध किया था, तथा रोम-साम्राज्य का नाश कर यूरोप के नये इतिहास का आरम्भ किया था। ठीक उसी समय उन लोगों ने दक्षिण और पूर्व की ओर आकर पारस से उज्जयिनी तक को कँपा दिया था। पराक्रान्त गुप्त-साम्राज्य का उसी समय उन लोगों ने नाश किया था। उन लोगों की गति का अवरोध करने के लिए महाराज विक्रमादित्य का नाम भारतवर्ष में चिर-स्मरणीय रहेगा।

इसके सात सौ वर्ष बीतने पर मध्य एशिया ने पृथ्वी पर उत्पात मचाने के लिए बर्बर जाति को भेजा था। उस समय रूम, दिल्ली तथा चीन-सम्राट् लोग चंगेज़ और तैमूर के नाम से काँपते थे। पाँच सौ वर्ष बीतने पर यह देखते हैं कि रूम के सिंहासन पर तुर्क बैठ कर रोम-साम्राज्य पर अपना आधिपत्य जमाते हैं और मोग़ल जाति चौहान राजपूत के सिंहासनारूढ़ हो हिन्दुओं से जिज़िया वसूल करती है।

प्रकाश-तत्त्व

प्राचीन समय के कोई कोई लोग सोचते थे कि आँख से प्रकाश-कणिका निकल कर सम्मुख की वस्तु पर पड़ने से वह वस्तु दीप्तिमान् तथा प्रत्यक्ष होती है। इस प्रकार की व्याख्या से इस बात की मीमांसा नहीं होती कि अँधेरे घर में कोई चीज़ क्यों नहीं देख पड़ती।

पर हाँ, इस प्रकार की व्याख्या हो सकती है कि प्रत्यक्ष वस्तु से कणिका निकल कर आँख में लगने से वह वस्तु दिखलाई पड़ती है। प्रकाश-विज्ञान के प्रतिष्ठाता स्वयं न्यूटन ने इस मत को दृढ़भाव से प्रतिष्ठित किया था, परन्तु यह मन उनके ठीक मन का नहीं था। साठ वर्ष पूर्व बड़े-बड़े विद्वानों की भी इस मत में संपूर्ण श्रद्धा थी।

न्यूटन के समय के एक दूसरे पण्डित ने आलोक (प्रकाश) की उत्पत्ति की दूसरी व्याख्या की थी। इनका नाम ह्वीगेन्स था। जिस प्रकार एक ढेले के फेकने से पानी में तरङ्गें उत्पन्न होती हैं तथा तार के हिलाने से वायुराशि में तरङ्गें पैदा होती हैं, उसी प्रकार दीप्तिमान् द्रव्यों के अणु भी विश्वव्यापी आकाश नामक पदार्थ में तरङ्गें पैदा करते हैं। उन्हीं तरङ्गों से आलोक

की उत्पत्ति होती है। सौ से ज़्यादा वर्षों तक किसी की भी इस मत में श्रद्धा नहीं थी।

श्रद्धा क्यों नहीं थी? आलोक की रश्मि एक ओर सीधी जाती है परन्तु जल की तरङ्गें तथा वायु में शब्दोत्पादक तरङ्गें सीधी रेखा पर नहीं चलतीं। आलोक की रश्मियाँ जिस ओर चलना आरम्भ करती हैं उसी ओर चलती हैं, परन्तु तरङ्ग का स्वभाव चारों ओर फैल जाने का है। वह एक ओर नहीं रह सकती।

शब्द से आलोक में इस प्रकार का भेद है। खुली खिड़की से धूप आकर सम्मुख की दीवाल पर पड़ती है तथा धूप के किनारे छाया रहती है। सामने खड़े होने पर धूप लगती है, परन्तु किनारे हट जाने से छाया हो जाती है। किन्तु खिड़की के बाहर आवाज़ हो रही है, घर के भीतर चाहे जहाँ पर खड़े हो, आवाज़ सुनाई देगी। शब्द की छाया नहीं होती। शब्द की उत्पत्ति वायु-तरङ्ग से होती है तथा तरङ्ग का स्वभाव ही चारों ओर फैल जाना है। आलोक (प्रकाश) कभी भी तरङ्ग गुणवाला नहीं हो सकता, नहीं तो आलोक बिना फैले एक ओर क्यों जाता है? आलोक के पास छाया क्यों होती है?

यह प्रश्न करने पर बहुत से विद्वान् निरुत्तर हो गये थे, परन्तु निरुत्तर होना उनको उचित न था। क्योंकि यह बात ही ठीक नहीं। वास्तव में आलोक भी फैल जाता है तथा एक ओर नहीं चलता। इस प्रश्न का उत्तर न्यूटन स्वयं दे सकते थे, परन्तु विज्ञानशास्त्र के दुर्भाग्यवश उन्होंने उस विषय में हाथ ही नहीं डाला।

रोशनी के, एक बहुत छोटे छेद से, आकर एक सफ़ेद काग़ज़ पर पड़ने से देख पड़ता है कि छिद्र के सम्मुख तो आलोक है ही प्रत्युत उसके आस-पास भी कुछ दूर तक रोशनी है। बीच में रोशनी है, उसके किनारे सहसा पूर्ण अन्धकार नहीं है, किन्तु रोशनी क्रमशः धीमी होती हुई आख़िर में पूर्ण अन्धकार में परिणत हुई है। तात्पर्य्य यह है कि रोशनी कुछ दूर तक रहती है।

कुछ दूर क्यों रहती है? आख़िर को क्यों अन्धकार हो जाता है? इसका उत्तर देना कठिन नहीं है। आप लोगों ने जल की तरङ्गों को देखा होगा। एक स्थान में ऊँची तथा दूसरी जगह नीची रहती है। यहाँ पर सिर वहाँ पर पेट, सिर के बाद पेट तथा पेट के पश्चात् सिर, इसी प्रकार लगातार तरङ्गें उत्पन्न होती रहती हैं।

दो जगह से तरङ्गों के आने पर तरङ्गों पर तरङ्गें गिरती हैं। एक स्थान से एक क़तार तरङ्गों की आ रही है, सिर के पश्चात् पेट, पेट के पश्चात् सिर तथा दूसरे स्थान से भी दूसरी क़तार आ रही है, सिर के बाद पेट तथा पेट के बाद सिर। एक क़तार के सिर के ऊपर यदि दूसरी क़तार का सिर आ गिरे तो वह स्थान कुछ ऊँचा हो जायगा तथा पेट के ऊपर पेट गिरने से और नीचा हो जायगा। परन्तु यदि पेट के ऊपर सिर गिरे तो ऊँचा-नीचा नहीं होगा, किन्तु सब बराबर हो जायगा। दोनों तरङ्गें मिल कर समतल हो जायँगी अर्थात् तरङ्गों का लोप होगा। चहबच्चा या तालाब के दो जगहों के पानी को हिला देने से इस प्रकार की घटना सहज ही में देख पड़ती है।

शब्द-तरङ्ग का भी इसी प्रकार से लोप होता है। दो शब्दों के आपस में मिलने से निःशब्दता उत्पन्न होती है। इसमें आश्चर्य ही क्या है कि दो आलोकों के मिलने से अन्धकार की उत्पत्ति होती हो।

दो जगहों के बदले यदि बहुत स्थानों से तरङ्गें उठें तो इस लोप का व्यापार महा समारोह सहित सम्पन्न होने लगता है। जितने अधिक स्थानों से लहरें आती हैं उतने ही अधिक लोप भी होने लगती हैं। जब एक बड़े छेद से होकर रोशनी आती है उस समय छेद का प्रत्येक बिन्दु आलोक-तरङ्ग का उत्पत्ति-स्थल हो जाता है तथा लाखों बिन्दुओं से तरङ्गों की क़तार उत्पन्न होकर शतधा विकीर्ण होती है। परन्तु तरङ्गों के आपस में कट जाने से प्रायः सम्पूर्ण प्रदेश निस्तरङ्ग हो जाता है। सिर्फ़ प्रत्येक बिन्दु के सम्मुख एक संकीर्ण मार्ग पर आलोक-तरङ्ग अक्षुण्ण शरीर से अव्याहत भाव से चलती रहती है। इसी से आस-पास अन्धकार तथा बीच में रोशनी होती है। बड़ा छेद न होने से यह घटना नहीं होती, तब सम्मुख में रोशनी तो रहती ही है, आस-पास में भी धीमी रोशनी कुछ दूर तक या अन्धकार के बीच-बीच में कुछ-कुछ दीप्त रोशनी देख पड़ती है। जहाँ पर तरङ्गें आपस में कटती हैं वहीं पर अन्धकार रहता है। जहाँ पर तरङ्गें कट कर बिलकुल निस्तरङ्ग नहीं हो सकतीं वहीं पर धीमी रोशनी होती है। इसी से तरङ्गों के रहने पर भी छाया की उत्पत्ति होती है। फैलना आलोक का स्वभाव है; पर वहाँ आलोक के आपस में मिल जाने से अन्धकार हो जाता है।

एक रोशनी में दूसरी रोशनी के मिलने से अन्धकार की उत्पत्ति होती है। न्यूटन को यह रहस्य पहले ज्ञात था। उन्होंने दो काँच को—पहले की सतह समतल थी तथा दूसरे की कुछ ऊपर उठी हुई—परस्पर में दबा कर देखा था कि दोनों काँचों के बीच रोशनी के बाद अन्धकार, और अन्धकार के बाद रोशनी देख पड़ती है। सूर्य्य की रोशनी में नाना प्रकार के रङ्ग हैं। किरणों के आपस में कट जाने से कहीं नीला, कहीं हरा, कहीं लाल रङ्ग का लोप हो जाता है। इसी से सफ़ेद रङ्ग के बदले कई रङ्ग दिखाई देते हैं। पानी में तेल छोड़ने से तेल का एक पतला परदा ऊपर तैरता रहता है। परदे के ऊपर से एक लहरों की क़तार तथा परदे के नीचे से एक लहरों की क़तार उठती है। इन दोनों क़तारों के आपस में कटने से कोई न कोई रङ्ग लुप्त हो जाता है तथा तेल का आवरण रङ्गीन देख पड़ता है। इन्हीं क़तारों के आपस में कटने से साबुन के परिचित फेन का भी रङ्ग दिखलाई पड़ता है।

तात्पर्य्य यह है कि इसके स्वीकार करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती कि रोशनी एक प्रकार की लहरों से उत्पन्न होती है। सूक्ष्म छेद से रोशनी के आने पर उसके आस-पास कुछ दूर तक रोशनी देख पड़ती है। परन्तु बड़े भारी छेद अथवा खिड़की से रोशनी आने पर केवल सम्मुख का हिस्सा आलोकित होता है तथा आसपास छाया दिखाई देती है। आलोक-तरङ्ग छोटी होती है और शब्द-तरङ्ग बड़ी। रोशनी की लहरें बहुत ही छोटी होती हैं तथा शब्द-तरङ्ग दो-चार हाथ लम्बी होती है। हम

लोगों के दरवाज़ों का एक सामान्य छिद्र रोशनी के लिए बहुत बड़ा है, परन्तु शब्द के लिए बहुत ही संकीर्ण है। आलोक-तरङ्ग आपस में कट कर लुप्त हो जाती है; परन्तु शब्द-तरङ्ग आपस में कटने का अवसर नहीं पाती। इसी से घर के कोने में भी बैठे रहने से बाहर का शब्द सुन पड़ता है। बृहत्व ही पर शब्द तथा आलोक-तरङ्ग का भेद है।

तरङ्गें क्यों उत्पन्न होती हैं? जिन जड़-कणिकाओं के अवलम्बन से तरङ्गें प्रवाहित होती हैं वे एक नियमित समय में नाचती रहती हैं। इसी से तरङ्गों की उत्पत्ति होती है। जलतरङ्ग, वायु-तरङ्ग तथा आकाशतरङ्ग तीनों में एक ही बात है।

यह बात इस प्रकार सहज में समझी जा सकती है। स्कूल से छुट्टी के बाद लड़कों को एक क़तार में खड़ा कराओ। यदि लड़के समवयस्क तथा एक ही ऊँचाई के हों तो अच्छी बात है। हर एक को सिखाओ कि अपनी दहिनी ओर वाले लड़के को एक चुटकी काट कर अपने स्थान पर एक मरतबे उछलो। इसके बाद वह लड़का भी, जिसको पहले लड़के ने चुटकी काटी थी, अपनी दहिनी ओर वाले को चुटकी काट कर उछले। इस प्रकार उछलने के पहले हर एक अपनी दहिनी ओर वाले को चुटकी काटें कुछ देर तक इस प्रकार होने पर मास्टर साहब को यह मालूम होने लगेगा कि लड़कों के सिर से एक प्रकार की लहरें उठ रही हैं।

जलतरङ्ग तथा वायुतरङ्ग की तरह आकाशतरङ्ग के भी नाना प्रकार के गुण हैं। जल की लहरें तालाब के किनारे से लग कर

लौटती हैं, तथा वायु की तरङ्गें दूर के पेड़-पल्लवों में टकरा कर प्रतिध्वनि उत्पन्न करती हैं। उसी प्रकार आकाशतरङ्ग के दर्पण-पृष्ठ पर धक्का लगने से प्रतिबिम्ब की सृष्टि होती है। आलोक-रश्मि के इस प्रकार के प्रत्यावर्त्तन को "परागवर्त्तन" कह सकते हैं। यद्यपि यह नाम कुछ बड़ा प्रतीत होता है तथापि समझने में कुछ कष्ट न होगा।

एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में आकाशतरङ्ग प्रवेश कर भिन्न वेग से चलती है। इसका परिणाम यह होता है कि आकाश-रश्मि कुछ तिर्य्यक् अर्थात् तिरछा पथावलम्बन करती है। इसको "तिर्य्यगवर्त्तन" कह सकते हैं।

वायु में छोटी बड़ी सब प्रकार की आकाश-तरङ्गें सम-वेग से चलती हैं। उस वेग का कितना परिमाण है? सेकण्ड में प्रायः लाख कोस! इसका कहना है, सहज परन्तु इसकी धारणा करना टेढ़ी खीर है। वायु के अतिरिक्त और दूसरे पदार्थों में—जैसे पानी, काँच या और किसी सान्द्र पदार्थ में—वे समान वेग से नहीं चलतीं। सभी तरङ्गों का वेग कुछ कम हो जाता है। बड़ी बड़ी लम्बी तरङ्गा का वेग—जिनसे लाल, पीला रङ्ग उत्पन्न होता है,—कुछ-कुछ कम होता है, परन्तु छोटी-छोटी तरङ्गों का वेग, जिनसे हरे नीले रंग की उत्पत्ति होती है, ज्यादा कम हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि भिन्न-भिन्न रंगदार तरङ्गें भिन्न पथ पर चलने लगती हैं। आँख के पर्दे पर छोटी बड़ी नाना प्रकार की तरङ्गों के एक साथ टकराने से सफ़ेद रङ्ग का ज्ञान होता है तथा बड़ी तरङ्गों के छोटी तरङ्गों से अलग होकर

आँख के पर्दे पर टकराने से लाल, नीले इत्यादि रंगीन आलोक का ज्ञान होता है। काँच के क़लम में सफ़ेद रोशनी प्रवेश करने पर उस रोशनी के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं और उससे हर एक प्रकार की रोशनी उत्पन्न होती है।

यहाँ तक सिद्ध हो चुका कि रोशनी नाना प्रकार की होता है। कोई तो लम्बी है तथा कोई छोटी और किसी से लाल तथा किसी से नीले रंग की उत्पत्ति होती है। परन्तु लाल रंग से भी लम्बी तथा नीले रंग से भी छोटी लहरें आकाश-पथ में सर्वदा उठा करती हैं। आश्चर्य्य यह है कि वह रोशनी हमारी आँखों द्वारा नहीं जानी जा सकती। उस रोशनी का कुछ रंग नहीं है। उस आलोक को हमारी त्वगिन्द्रिय स्पर्श कर सकती है तथा वह थर्मामीटर से जाना जा सकता है। जो छोटी-छोटी तरङ्गें आँख से नहीं जानी जा सकतीं वे एक काग़ज़ पर कास्टिक तथा नमक का लेप करने से जानी जा सकती हैं। ऐसी गर्म चीज़ को, जो गर्म होने पर भी दीप्तिमान् नहीं है, अँधेरे घर में रखने से न दिखलाई पड़नेवाली ताप उस गर्म वस्तु से निकलती है। यदि चीज़ बहुत गर्म हो तो दूर से देह में आँच लगती है। जो ताप निकलती है वह वास्तव में ताप नहीं है, किन्तु आलोक है जो लाल रङ्ग की रोशनी से भी लम्बा है।

वास्तव में आकाश में नाना प्रकार की छोटी-बड़ी लहरें उत्पन्न हो रही हैं, जिनमें से कुछ का तो आँखों से ज्ञान होता है तथा बहुतों का नहीं।

इन छोटी-बड़ी आकाशतरङ्गों की लम्बाई कितनी है? पहले

कह चुके हैं कि आलोक का वेग प्रत्येक सेकण्ड में लगभग लाख कोस के है। परन्तु इन तरङ्गों की लम्बाई नापने के लिए कोस से, गज़ से तथा इंच से भी काम नहीं चलेगा। एक इञ्च का दस लाख हिस्सा करके नापने की डंडी तैयार करनी पड़ेगी। यह क्षुद्रादपिक्षुद्र नापने की डंडी सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी दिखलाई नहीं देती। लाल रङ्ग की तरङ्ग इस नाप से तीस गुणा लम्बी होती है तथा नीले रङ्ग की तरङ्ग १६ गुणा लम्बी होती है। १६ से भी कम तथा ३० से भी ज्यादा लम्बी तरङ्गें हैं, परन्तु मनुष्य की दृष्टि उनको पकड़ नहीं सकती।

ये सब सूक्ष्मानुसूक्ष्म तरङ्गें आकाश में निरन्तर हर सेकण्ड में लाख कोस की चाल के हिसाब से उठती रहती हैं तथा इससे जगत् की नाना प्रकार की विचित्र घटनायें सम्पादन होती रहती हैं। ये तरङ्गें करोड़ों मील दूर के तारों की ख़बर बतलाती हैं तथा विश्व-जगत् की विचित्र शोभा का वर्धन करती हैं।

परन्तु आश्चर्य का विषय है कि कुछ समय पूर्व यह तत्व किसी को भी ज्ञात नहीं था कि आकाश में दो-चार इञ्च या दो-चार हाथ लम्बी-लम्बी तरङ्गें जो साधारण आलोक से बहुत बड़ी हैं—उत्पन्न हो सकती हैं तथा इनका साधारण तरङ्गों से केवल आकार के बड़े होने ही में भेद है; नहीं तो ये गुण में साधारण तरङ्गों की तरह होती हैं। कुछ दिन पहले यह सुदीर्घ आकाश-तरङ्ग मनुष्य के लोचन से अगोचर थी।

यह मनुष्य के अगोचर थी सही, पर इसकी कल्पना बहुत पूर्व हो चुकी थी। कई एक वर्ष व्यतीत हुए कि केम्ब्रिज विश्व-

विद्यालय के एक अध्यापक ने मानसचक्षु में इन बृहत् आकाशोर्म्मियों के अस्तित्व को प्रत्यक्ष कर दिखलाया था। उनकी असाधारण धीशक्ति ने, ज्ञानेन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा न कर, केवल अन्तरिन्द्रिय के प्रभाव से इस जागतिक रहस्य का आविष्कार किया था। इनका नाम क्लार्क माक्सवेल है। न्यूटन के पश्चात् विज्ञानेतिहास में इतने बड़े तत्ववेत्ता का नाम नहीं पाया जाता।

उन्होंने दिखला दिया था अथवा यों कहिए कि मानसचक्षु से देखा था कि दो बटनों में या दो धातुपात्रों में एक ताड़ित् स्फुलिङ्ग के होने पर उसके चारों ओर का आकाश कम्पित होने लगता है तथा उसी कम्पन से चारों ओर बड़ी बड़ी तरङ्गें उत्पन्न हो दिगन्त में लक्ष कोस प्रति-सेकण्ड के हिसाब से चलना आरम्भ कर सकती हैं। आश्चर्य का विषय है कि ये वृहदाकार तरङ्गें लम्बाई के अतिरिक्त अन्यान्य संपूर्ण बातों में हम लोगों की चिरपरिचित आलोक-ऊर्म्मि कोई सदृश धर्म्मविशिष्ट होती हैं।

परन्तु इन वृहत् ऊर्म्मियों को न तो दर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्षगोचर कर सकती हैं और न त्वगिन्द्रिय ही, इस अवस्था में मनुष्य आँख के रहते भी अन्धा है।

सन् १८८७ ई० के समाप्त होने के पहले बर्लिन शहर के अध्यापक हेलमहोलज़ के शिष्य ने मनुष्य-जाति के इस अन्धभाव को दूर किया था। उसकी यशोध्वनि से वैज्ञानिक जगत् प्रतिध्वनित हुआ है। यह तरुण युवक इस समय इस पृथ्वी पर नहीं है। इसका नाम हार्ट्ज़ था।

हार्ट्ज़ ने वैज्ञानिक-मण्डली को यह दिखला दिया था कि यह ताडित्-स्पन्दनोद्भूत आकाशतरङ्ग धातुमय दीवाल से 'पराग्-वर्त्तित' हो प्रतिफलित होती है तथा सान्द्र पदार्थ में प्रवेश कर तिर्य्यग्वर्तित होती है। इनकी भी तरङ्गें आपस में मिल कर लोप हो जाती हैं। अर्गन बाजे की गम्भीर ध्वनि जिस प्रकार दूरस्थ धातुतन्त्री पर आघात कर झङ्कार उत्पन्न करती है, उसी प्रकार ताडित् यन्त्र से उत्पन्न यह आकाशतरङ्ग प्रत्येक सेकण्ड में लाख कोस के हिसाब से चलकर दूर वाले ताडित् यन्त्र में स्पन्दन उत्पन्न करती है। इस नये आविष्कार ने पाश्चात्य विद्वन्मण्डली में हर्ष-कोलाहल मचा दिया था। देश-विदेश में वैज्ञानिक लोग हार्ट्ज़ का अनुसरण कर, ताडित् स्पन्दन की सहायता से, सुबृहत् आकाशतरङ्ग के अस्तित्व के आविष्कार के नये-नये उपाय निकालने की चेष्टा करने लगे थे।

हृत्-पिण्ड में वेग से स्पन्दन आरम्भ होने पर शिरा तथा धमनी की सहायता से संपूर्ण शरीर में स्पन्दन होने लगता है। सम्पूर्ण मनुष्य-शरीर में रक्तधारा बड़े वेग से बहने लगती है।

पृथ्वी की वैज्ञानिक समाज के शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वेग से रक्त सञ्चालित हो इस स्पन्दन का अनुभव होने लगा था। केवल भारतवर्षीय पण्डित-समाज में इस हृत्स्पन्दन का अनुभव नहीं हुआ था। उस समय पृथ्वी के वैज्ञानिक समाज में भारतीय पण्डित-समाज सम्मिलित नहीं हुआ था।

एक दिन सबेरे उठ कर सहसा एक समाचार-पत्र में पढ़ा कि सात समुद्र पार ब्रिटिश एसोसियेशन की वैज्ञानिक मण्डली के

सम्मुख, एक भारतीय अध्यापक, अपनी प्रतिभा द्वारा उद्भावित यन्त्र से ताडित्-स्पन्दनोत्पन्न आकाश-तरङ्ग की गति-विधि को विस्मयाकलित दर्शकवृन्द के प्रत्यक्ष-गोचर करा रहे हैं तथा वयोवृद्ध लार्ड केलविन की सोल्लास औत्सुक्य-विस्फारित आँखें, स्निग्ध-ज्योतिःपूतसलिला स्वर्गधारा की तरह, उन अध्यापक के श्यामाङ्ग के वर्णकलङ्क को पोंछ रही हैं।

उपयुक्त ज्ञानेन्द्रिय के न होने से हम लोग बड़ी-बड़ी आकाश-तरङ्गों को प्रत्यक्ष की सीमा के अन्तर्गत नहीं कर सकते, पर उपयुक्त यन्त्र की सहायता से उन तरङ्गों का परिणाम प्रत्यक्ष हो सकता है। इस प्रकार के उपयुक्त यन्त्र का आविष्कार करना ही अभी तक एक समस्या थी। हार्ट्ज़ इस समस्या की पूर्ति करने में सब से पहले सफल हुए थे। इसके पश्चात् किसी किसी को देख पड़ा कि धातुचूर्ण पर ताडित्-तरङ्ग के टकराने से उस धातुचूर्ण के ताडित्-प्रवाह की परिचालनक्षमता बढ़ जाती है। एक काँच की नली में कुछ लौह-चूर्ण भर कर उसमें से ताडित्प्रवाह सञ्चालित करने पर वह ताडित्-प्रवाह चुम्बक की सुई को उसके स्थान से फेंक कर घुमा देता है। उस धातु-चूर्ण से ताडित्-तरङ्ग के टकराते ही चूर्ण की परिचालनक्षमता इतनी बढ़ जाती है कि ताडित् का प्रवाह सहसा बलवत्तर हो जाता है तथा चुम्बक की सुई सहसा घूम कर हट जाती है। इस प्रकार यन्त्र की सहायता से ताडित्-तरङ्ग के अस्तित्व को किसी किसी ने सिद्ध किया है। परन्तु वे यन्त्र बहुत स्थूल हैं, कभी तो काम करते थे और कभी बन्द हो जाते थे। प्रोफ़ेसर

जगदीशचन्द्र (जे० सी०) बोस ने नया यन्त्र बनाया है। इस यन्त्र का आकार छोटा है तथा इसके बनाने में कोई जटिलता भी नहीं; परन्तु इसकी क्षमता अत्यन्त विस्मय-कर है। आकाश-तरङ्ग के उत्पन्न करने में तथा उसका अस्तित्व प्रतिपादन करने में यह अव्यर्थ यन्त्र है। इस यन्त्र की सहायता से इसके आविष्कर्त्ता ने आकाशतरङ्ग के नये-नये गुणों को प्रत्यक्ष कर वैज्ञानिकों को आश्चर्यित कर दिया है। ऐसे सूक्ष्म यन्त्र का अभी तक आविष्कार नहीं हुआ था। जिस दिन प्रोफ़ेसर जगदीशचन्द्र ने ब्रिटिश एसोसियेशन के सम्मुख अपने आविष्कार किये हुए यन्त्र को रक्खा था तथा उसकी सहायता से जड़जगत् के सम्बन्ध में नये-नये तत्त्वों को प्रकाश किया था, वह दिन भारत-वर्ष के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

परमाणु

आज के प्रबन्ध का विषय बहुत पुराना है। कुछ नहीं तो दो हज़ार वर्ष पहले भारतवर्ष तथा ग्रीस देश के पण्डितों ने इसकी कल्पना की थी। आज तक यह परमाणु कल्पित अवस्था में ही है। किसी मनुष्य के अभी तक प्रत्यक्ष-गोचर नहीं हुआ तथा अभी यह आशा भी नहीं की जाती कि वह कभी प्रत्यक्षगोचर होगा। पर विज्ञान-शास्त्र की यह कल्पना बहुत मूल्यवान् है। इस कल्पना के बिना हम लोग जड़ पदार्थ के प्रत्यक्ष-गोचर गुणों को सहज में न तो समझ सकते और न समझा सकते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि प्रत्यक्ष की नींव पर विज्ञानशास्त्र गठित है तो इसमें क्या कल्पना या अनुमान को भी स्थान दिया गया है? यदि है तो उसकी क़द्र हो कितनी है? इस प्रश्न का उत्तर देकर परमाणु के वक्तव्य विषय के कहने की चेष्टा की जायगी।

विधाता ने हम लोगों को जो इन्द्रिय-शक्ति दी है उसकी सहायता से हम लोग विश्व-जगत् के बहुत ही कम अंश से परिचित हैं। विश्व-जगत् का अधिकांश भाग हम लोगों को अज्ञात तथा अपरिचित है। उसके जिस भाग को हम लोग देखते हैं

उसके भीतर क्या हो रहा है, इसके जानने की हम लोगों को नितान्त उत्कण्ठा होती है। भीतर क्या है, इसके न जानने से बाहर देख पड़नेवाले का ठीक तात्पर्य समझ में नहीं आता। इसी से हम लोग क्रमशः ओट के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा कर रहे हैं। बहुत सी छोटी वस्तुएँ हम लोगों को नहीं दिखलाई देतीं पर हम लोग आँख के सम्मुख दो छोटे काँच रखकर छोटी वस्तु को बड़ी कर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग देखते हैं। सूर्य्य का प्रकाश श्वेत है, परन्तु उसको हम लोग एक काँच के भीतर कर टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं तब उस शुभ्रवर्ण के आलोक के भीतर कई प्रकार के रङ्ग देख पड़ने लगते हैं। हम लोग उस विचित्र वर्ण के आलोक से पार्थिव तप्त-पदार्थ द्वारा विकीर्ण आलोक का मिलान कर सूर्य्य में अनेक प्रकार की धातुओं का अस्तित्व ज्ञात करते हैं। इस प्रकार हम लोग चक्षु के लिए अगोचर, कर्ण के लिए अगोचर तथा त्वगिन्द्रिय के लिए अगोचर वस्तु को नाना कौशल से इन्द्रिय-गोचर कर विश्व-जगत् के निगूढ़ तत्त्व का आविष्कार करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार की चेष्टा करने के परिणाम में अभी तक न जाने कितने तत्त्वों का आविष्कार हुआ है; परन्तु उसका सम्पूर्ण रहस्य अभी प्रकट नहीं हुआ। एक रहस्य को ढूँढ़ निकालने पर हम लोगों को उसकी आड़ में छिपे हुए बहुत से रहस्यों का पता लगता है। उन रहस्यों से आवरण के हटाने पर हम लोगों की ज्ञानतृष्णा तृप्त नहीं होती। वास्तव में यह एक तृष्णा है। दूसरी तृष्णाओं से केवल इतना भेद है कि किसी प्रकार इसकी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति के लिए जितना ही अधिक

उपाय किया जाता है उतनी ही आकांक्षा की मात्रा अधिक होती जाती है। यहाँ पर "मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की" का मसला चरितार्थ होता है।

तृष्णा की सीमा नहीं है; परन्तु मनुष्य-शक्ति की सीमा है। चेष्टा करने पर प्रकृति का रहस्य कुछ-कुछ प्रकट होता है सही, परन्तु उसकी आड़ में जो छिपा रहता है वह प्रत्यक्ष नहीं होना चाहता। वैज्ञानिक-गण मन्दिर के द्वार ही पर बैठे रहते हैं। परन्तु प्रकृति देवी अपने को पूर्ण मात्रा से प्रकाश करना नहीं चाहती। उपासक को तब कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है तथा वह कल्पना से नेत्र के अगोचर को देखता है। प्रकाशित वस्तु का अवलम्ब कर अप्रकाशित वस्तु की वैज्ञानिक-गण कल्पना करते हैं।

यह कहना कठिन है कि कल्पना की सहायता से जो चित्र खींचा जाता है उससे मूल वस्तु का कितना सादृश्य है। सम्भव है कि वह कुछ भी न मिलता हो या कुछ-कुछ मिलता हो। प्रत्यक्ष वस्तु का आश्रय कर तथा उसी की नींव पर कल्पना का निम्र्माण होता है। प्रत्यक्ष के साथ मेल तथा सामञ्जस्य रखने के लिए और प्रत्यक्ष को अच्छे प्रकार समझाने के लिए अप्रत्यक्ष के सम्बन्ध में यह चतुरता की गई है। सम्भव है कि किसी न किसी दिन वह प्रत्यक्षगोचर हो जावे। उस समय कल्पित चित्र से मिलान कर सत्य असत्य की मात्रा जानी जा सकेगी। जितना सत्य है उतना ही ग्रहण करना चाहिए तथा जितना झूठ है उसका परित्याग करना चाहिए।

सत्य लाभ है पर मिथ्या को सम्पूर्ण हानि नहीं कह सकते, क्योंकि मिथ्या के चंगुल से बचना इस जगत् में थोड़ा लाभ नहीं है।

आधुनिक विज्ञान-विद्या की एक यह निन्दा प्रचलित है कि इसके किसी सिद्धान्त पर भद्रगण निर्भर नहीं रह सकते। आज वैज्ञानिक जिस बात को कहते हैं कल उसको उलट देते हैं। वास्तव में कई एक वर्ष के बीच विज्ञानशास्त्र ने एक घटना के सम्बन्ध में बहुत विचित्र मतों को प्रकाश किया है। यह प्रत्यक्षतः सत्य है कि सूर्य्य से हम लोगों को प्रकाश मिलता है। सूर्य्य से आलोक-कणिका निकल कर हमारी आँख पर टकराती है, इसी से हम लोगों को देख पड़ता है। न्यूटन के शिष्य-प्रशिष्य, न्यूटन के इस मत की क़दर करते थे। यदि कोई इसमें सन्देह करता था तो उसको जली-कटी सुना देते थे। परन्तु आधुनिक समय में वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि उस प्रकार की आलोक-कणिका का अस्तित्व ही नहीं है। सूर्य्य और पृथ्वी के बीच न जाने किस प्रकार का एक अजीब किम्भूत-किमाकार पदार्थ है। इसको अँगरेज़ी में ईथर कहते हैं। हिन्दी में इसे आकाश कह सकते हैं। इस कल्पित आकाश के अन्यान्य गुण ज्ञात नहीं हैं, केवल इतना ज्ञात है कि इसमें तरङ्गें उत्पन्न हो सकती हैं। जिस प्रकार पानी में ढेला फेंकने से लहरें पैदा होती हैं या बाजे के तार को खींचने से वायु में कम्पन होने लगता है उसी प्रकार आकाश में भी तरङ्गें पैदा होती हैं। सूर्य्य-मण्डल से उन लहरों के, प्रबल वेग से, आकर आँख पर टकराने से हम लोगों

को देख पड़ता है। इस समय न्यूटन की कल्पित आलोक-कणिका पर कोई विश्वास नहीं करता हैं। अब तो सिर्फ़ तरङ्ग ही के माननेवाले हैं। और एक परमाणु का उदाहरण देते हैं। अभी तक विद्वानों का यह विश्वास था कि इन परमाणुओं को कोई तोड़ नहीं सकता और न काट सकता है। यह "अच्छेद्योयम् अभेद्योयम्" है। आधुनिक समय में वही विद्वान् कहते हैं कि परमाणु के तोड़ने की तरह सहज और कोई बात नहीं है। हम लोगों के सम्मुख सर्वदा परमाणु टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। अभी तक हम लोग आँखों के रहने पर भी अन्धे की तरह उसको देखते नहीं थे। जिनका विज्ञान से कुछ सम्बन्ध नहीं है वे वैज्ञानिकों की इस विज्ञानवार्ता को बिना चूँ किये लाचार हो कर मान लेते हैं। ऐसे क्षेत्र में उनको दिशाभ्रम हो जाता है। वे कुछ स्थिर नहीं कर सकते कि वैज्ञानिकों की किस बात को ध्रुव सिद्धान्त मानें तथा आख़िर में अधीर होकर वैज्ञानिकों की आश्रित सत्यनिर्धारण-प्रणाली ही में संदेह करने लगते हैं। वास्तव में यह वैज्ञानिकों का दोष नहीं है। यह प्रकृति देवी का दोष है। यदि प्रकृति देवी, प्रार्थना करने पर घूँघट खोल कर सब प्रकाश कर देतीं तो वैज्ञानिक की बात के विरुद्ध ऐसा न होता। परन्तु उनका तो ऐसा स्वभाव नहीं है। बहुत प्रार्थना करने पर देवी कुछ घूँघट खोलती हैं, शेष भाग के जानने के लिए दर्शनार्थी को कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। फिर और कठिन साधना करने पर कुछ और घूँघट खोलती हैं तब बाक़ी को जानने के लिए कल्पना-छुरा फिर तेज़ करनी पड़ती है।

यह तो हुई वैज्ञानिकों की अवस्था। जब विधाता ही ने उनको अपरिमित शक्ति प्रदान नहीं की तब बेचारों का इसमें क्या दोष ! साधारण मनुष्यों से वे कुछ ज़्यादा देखते हैं सही, पर इससे वह मनुष्यत्व से नहीं बढ़ जाते। उनकी त्रुटि साधारण मनुष्य की त्रुटि की तरह होती है। इसके लिए उनको उत्तर-दाता न कह उनकी साधना के लिए, जिससे अनेक गुप्त रहस्यों का आविष्कार हो रहा है, उनको साधुवाद तथा धन्यवाद देना ही उचित है। उन्होंने जिन तथ्यों का आविष्कार किया है वे मनुष्य की साधारण सम्पत्ति में परिगणित हैं; परन्तु जो अना-विष्कृत है उसके लिए ये उत्तरदाता नहीं है। भगवती माया ही, कि जिन्होंने मानवात्मा को पूर्णज्ञान लाभ से वञ्चित कर रक्खा है, इसकी उत्तरदाता हैं।

वैज्ञानिकों की सभी बातों को संशयरहित हो मान लेना ठीक नहीं। जो वैज्ञानिक तथा अवैज्ञानिक दोनों को प्रत्यक्षगोचर है वही सत्य है, तथा जो प्रत्यक्षगोचर नहीं, केवल अनुमानलब्ध है, वह पूर्णतः सत्य नहीं है। उसका अंशतः सत्य होना सम्भव है। परन्तु जो आंशिक सत्य है उसको वैज्ञानिक एकबारगी नहीं छोड़ सकते। क्योंकि उसकी सहायता से उनको साधना करने का अवसर मिलता है। कल्पना तथा अनुमान की सहायता ही से वे अपने गन्तव्य-पथ को स्थिर करते हैं।

किस रास्ते से जाने पर सत्य का अनुसन्धान हो सकेगा; बहुत स्थानों में इसका तत्त्व 'निहितं गुहायाम्' रहता है। अन्धकार में दौड़-धूप करने पर कभी रास्ता मिल भी सकता है

और नहीं भी मिल सकता । किन्तु अनुमान की सहायता लेने से कार्य्य का भार कुछ हलका हो जाता है। कुछ दूर चलने पर मालूम हो जाता है कि इस रास्ते पर चलने से सत्यानुसन्धान मिलेगा या नहीं। यदि मालूम हो कि यह ठीक रास्ता नहीं है तो उस रास्ते से लौटने पर भविष्य का अकारण श्रम कम हो जाता है। और यदि क्रमशः यह धारणा दृढ़ होती गई कि इसी रास्ते पर चलने से मिलेगा तो समयान्तर में अभीष्ट सिद्ध हो सकता है ।

इस पथ का नाम अनुमानपन्था है। प्रत्यक्ष से अनुमान-पथ पर लक्ष्य पदार्थ की ओर चलना पड़ता है। वैज्ञानिक-गण इसी पथ पर चलते हैं और जो विज्ञानशास्त्र ने इन कई वर्षों में असाध्य साधन किये हैं उससे ज्ञात होता है कि अभी तक तो 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' ।

जड़ पदार्थ की गठन-प्रणाली के सम्बन्ध में अनुसन्धान के लिए विद्वानों ने परमाणु का अनुमान किया था। इसके समझने की चेष्टा की जावेगी कि यह अनुमान कैसा है।

एक अट्टालिका दो प्रकार की बनाई जा सकती है। मान लो कि यह समझना होगा कि ताजमहल किस प्रकार बनाया गया था। यह अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ पर एक ठोस संगमरमर का पहाड़ था। उसके भीतर तथा बाहर से पत्थर काट कर निकाल के ताजमहल बनाया गया है। इस पद्धति से मन्दिर-निर्म्माण कष्ट-साध्य होने पर भी असाध्य नहीं है। भारतवर्ष में प्राचीन काल की बहुत सी गिरिगुहा इस प्रकार से

निर्म्माण की जाती थीं। इनको मनुष्यों ही ने बनाया है; विश्वकर्म्मा के आने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी थी। और, दूसरी तरह से भी ताजमहल बनाया गया होगा। दूर पर संगमरमर का पहाड़ था। उससे पत्थर के टुकड़े काट कर लाये गये होंगे और कारीगरों ने उन टुकड़ों से ताजमहल को बनाया होगा। अट्टालिका निर्म्माण करने का यह साधारण नियम है तथा ताजमहल की निर्म्माण-प्रणाली के विषय में भी इस प्रकार अनुमान किया जा सकता है। तात्पर्य्य यह है कि दोनों प्रकार का अनुमान किया जा सकता है। इनमें कौन संगत है, यह ताजमहल के सम्मुख खड़े होने पर ज्ञात होता है। ताजमहल के सम्मुख खड़े होने से समझ में आ जायगा कि आया ठोस पहाड़ को काट कर ताजमहल निर्म्माण किया गया है या पत्थर पर पत्थर रख कर। यदि इससे समझ में न आवे तो ताजमहल को तोड़ने से समझ में आ सकता है। परन्तु बात ऐसी है कि वैज्ञानिकों की ज्ञानतृष्णा को निवारण करने के लिए कोई यह अपकर्म्म करने के लिए सम्मति नहीं देगा। सोने का एक टुकड़ा जड़पदार्थ है। उस सुवर्णखण्ड की बनावट के विषय में इसी प्रकार का प्रश्न हो सकता है। वह निरा ठोस है या टुकड़े-टुकड़े स्वर्ण-खण्डों से बना हुआ है? इस प्रकार का प्रश्न हो सकता है। वैज्ञानिकों ने स्वर्ण-खण्ड को हिला कर, काट कर तथा टुकड़े-टुकड़े कर इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की है तथा यह सिद्ध किया है कि वह टुकड़े-टुकड़े ईंट के जुड़ने से बना है। उस ईंट के टुकड़े के स्थान में यहाँ पर सोने का टुकड़ा लेना चाहिए, तथा वह ईंट

इतनी छोटी है कि अभी तक किसी ने उसे नहीं देखा है और इसकी भी आशा नहीं कि किसी के प्रत्यक्षगोचर होगी। इसी से अभी तक वह अनुमानलब्ध पदार्थ है। ताजमहल तोड़ कर देखा जा सकता है कि वह संगमरमर की ईंटों से बना है। परन्तु वैज्ञानिक-गण अभी तक स्वर्ण-खण्ड को तोड़ कर सोने की ईंटें नहीं निकाल पाये हैं। उन लोगों का यह केवल अनुमान है कि उसके टुकड़े को तोड़ते-तोड़ते एक ऐसा वक़ आ सकता है जब सोने की ईंट मिल सके। यह कहना कठिन है कि जिन ईंटों से स्वर्ण-खण्ड की अट्टालिका निर्म्मित की गई है, उनके भी टुकड़े हो सकते हैं या नहीं। यह अतिसूक्ष्म सोने की ईंट, जिसको अभी तक किसी ने नहीं देखा है, सोने का परमाणु है। वैज्ञानिकों का यह अनुमान है कि सोना ही नहीं वरन् जगत् के यावतीय जड़ पदार्थ इस प्रकार के परमाणु के समष्टि हैं। ईंट पर ईंट रख कर अट्टालिका बनाने में दोनों ईंटों के बीच में चूने का मसाला देना पड़ता है और कभी-कभी पत्थर के टुकड़े भारी होने की वजह से आपस में चिपक जाते हैं। वैज्ञानिक इसके विषय में साहस कर स्पष्ट नहीं कहते कि इन परमाणुओं के बीच किसी प्रकार का मसाला है या ये आपस में चिपके हुए हैं। वे लोग सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि परमाणुओं के बीच किसी-किसी जगह पर पोलापन है। पर इसका विचार करना चाहिए कि वह जगह एकदम शून्य है या नहीं।

इस स्थान पर इन ईंटों को 'परमाणु' न कह कर 'अणु' कहेंगे। इसका कारण पीछे बतलाया जायगा। पण्डितों का

अनुमान है कि बहुसंख्यक सूक्ष्म तथा इन्द्रिय के अगोचर अणुओं के एकत्र होने से सारे जड़ पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। वे अणु नाना प्रकार के हैं। वायु के अणु के एकत्र होने से वायु, जल के अणु के एकत्र होने से जल तथा सोना-चाँदी के अणु से सोना-चाँदी की उत्पत्ति हुई है। अणुओं का तोड़ना कठिन है तथा अणु के भीतर थोड़ा सा अवकाश है।

निरवकाश तथा सावकाश द्रव्यों के भेद को अच्छी तरह समझना अच्छा होगा। एक पत्थर के टुकड़े को हम लोग ठोस कहते हैं परन्तु प्रस्तर-खण्ड के ढेर को हम लोग ठोस नहीं कहते। एक ईंट को ठोस कह सकते हैं, परन्तु ईंट के पजावे को ठोस कहना सङ्गत नहीं है। धान, चावल या बालू के ढेर को ठोस नहीं कह सकते, परन्तु एक लकड़ी के टुकड़े को ठोस कह सकते हैं। लौह-स्तम्भ को ठोस कह सकते हैं, परन्तु ईंट का खम्भा ठोस नहीं है।

दूर से धान, चावल या बालू का ढेर ठोस ज्ञात होता है। उस समय हम लोगों को अलग धान, चावल या बालू का अस्तित्व नहीं देख पड़ता। पास आने पर जब हम लोगों को प्रत्येक चावल, धान या बालू अलग अलग देख पड़ते हैं तब हम लोगों को ज्ञात होता है कि इनके बीच-बीच में कुछ जगह है। आँख से न देख पड़ने पर भी अँगुली घुसेड़ने से कण अलग अलग हो जाते हैं। हाथ उस ढेर के भीतर चला जाता है अथवा पानी उँड़ेलने पर बिना रोक टोक के भीतर प्रवेश करता है। मिट्टी पानी सोखती है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मिट्टी ठोस

नहीं है। उसके कण घनसन्निविष्ट होने पर भी सच्छिद्र सान्तर तथा सावकाश हैं।

पानी बीच की जगह में प्रवेश करता है परन्तु बालू में प्रवेश नहीं कर सकता, इससे उसके देह में लगा रहता है। दीवाल में खूँटा गाड़ने के समय जहाँ पर ख़ाली जगह है वहाँ सहज में खूँटा गाड़ा जा सकता है। चूहा वहाँ सहज में बिल बना सकता है तथा बिस्तुइया (छिपकली) भी दीवाल की इस प्रकार की दरारें देख कर प्रसन्नचित्त से वहाँ रह सकती है।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि हम लोग जिन वस्तुओं को ठोस समझते हैं वे वास्तव में ठोस हैं या उनके बीच बीच में ख़ाली जगह है। यदि उनके बीच-बीच ख़ाली जगह होगी तो वे ठोस न होंगी। उनकी भी बनावट दीवाल की तरह या बालुका-स्तूप की तरह होगी। सहज में कच्ची मिट्टी का छेद जाना जा सकता है, परन्तु जली हुई मिट्टी का छिद्र सहज में नहीं ज्ञात होता, पर वह भी सच्छिद्र है। क्योंकि यह देखा जाता है कि पके हुए घड़े में पानी भर देने से पानी बाहर आकर घड़े को भिगो देता है। इसी प्रकार लकड़ी तथा पत्थर की भी छिद्रता जानी जा सकती है। ठोस ज्ञात होनेवाले सोना-चाँदी धातु की भी सच्छिद्रता प्रतिपन्न की जा सकती है। लार्ड बेकन ने एक खोखले सीसे के गोले को दबाकर उससे बूँद बूँद पानी निकाला था। इसका सिद्ध करना कठिन नहीं है कि संपूर्ण पदार्थ सच्छिद्र हैं।

परन्तु इन छिद्रों के अस्तित्व से अणु का अस्तित्व प्रमाणित

नहीं होता। यह छेद मोटे हैं, क्योंकि इनके द्वारा जल-वायु स्वच्छन्दतापूर्वक निकल सकते हैं। अणुओं के बीच में जो छेद हैं वे इनकी अपेक्षा बहुत छोटे हैं। जिस प्रकार बालुका-स्तूप में पानी छोड़ने से स्तूप की सच्छिद्रता सिद्ध होती है, बालू-कण की नहीं; उसी प्रकार सोने के पत्तर के भीतर से पानी का आवागमन दिखलाने से स्वर्णकणिका के बीच के छिद्र का अस्तित्व सिद्ध होता है परन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि वे कण सूक्ष्मतर अदृश्य परमाणु से बने हुए हैं तथा उन अणुओं के बीच में छेद है या नहीं।

तब दूसरा उपाय करना चाहिए। दबाने से सम्पूर्ण वस्तुओं का—कठिन, तरल तथा मारुत पदार्थ का—आयतन कम हो जाता है। इस मारुत शब्द का प्रयोग अँगरेज़ी gaseous शब्द के बदले किया गया है। अँगरेज़ी gas शब्द का अभी तक हिन्दी में अनुवाद नहीं हुआ है। शहर के रास्ते में गैस की रोशनी की वजह से इस शब्द ने हम लोगों की भाषा में प्रवेश किया है, परन्तु संस्कृतानुगामिनी हिन्दी भाषा की धातुओं से इसका मेल नहीं खा सकता और न साहित्य की भाषा में इसका प्रयोग हो सकता है। क्योंकि यदि हम gas को गैस कहें तो gaseous को गैसीय कहने पर सरस्वती बहुत क्रुद्ध हो जायगी। इसी से कोई-कोई लोग gas का अनुवाद वायवीय पदार्थ करते हैं परन्तु Air is a gas का अनुवाद वायु एक वायवीय पदार्थ है ऐसा होगा। आधुनिक अँगरेज़ी-स्कूलों में यह अनुवाद मान लिया जा सकता है, परन्तु सरस्वती-मन्दिर में ऐसे अनुवाद का प्रवेश निषिद्ध है। इसी से प्राचीन पञ्चभूत के अन्तर्गत मरुततत्त्व का gas के अर्थ

में व्यवहार किया गया है। अतएव gaseous के स्थान में मारुत कहने से शायद् किसी के कान को बुरा न लगे। जड़ पदार्थ की तीन अवस्थायें हैं—कठिन, तरल और मारुत। दबाने से तीनों प्रकार के पदार्थों का आयतन कम हो जाता है। बहुत थोड़ा दबाने से ही मारुत पदार्थ में बहुत संकोचन होता है। तरल तथा कठिन पदार्थ भी ज्यादा दबाने से संकुचित किये जा सकते हैं। संकोचन करने का दूसरा उपाय भी है। गरम करने से दो-एक पदार्थों के अतिरिक्त संपूर्ण पदार्थ प्रसारित होते हैं और ठण्ड लगने से सिकुड़ते हैं। इसी प्रसारण-क्षमता की वजह से लोहे का पहिया लकड़ी पर जम जाता है तथा गर्मी की अपेक्षा जाड़े में घड़ी का पेंडुलम जल्दी चल कर काल-निरूपण करने में गड़बड़ी डालता है।

जड़ पदार्थों के अणुओं के बीच अवकाश का अनुमान करने से इस संकोचन तथा प्रसारण की घटना अच्छे प्रकार समझ में आने लगती है। अणुओं के पास आने से संकोचन तथा दूर जाने से प्रसारण होता है। यह अनुमान बहुत सहज तथा स्वाभाविक है।

अति प्राचीन समय से लोगों को मालूम है कि दाबने से या शीत के कारण जड़ पदार्थ संकुचित और गर्मी से प्रसारित होते हैं। परन्तु इसके होने पर भी ५० वर्ष के पूर्व अणु-घटित अनुमान की नींव पक्की नहीं हुई थी। ५० वर्ष में वह नींव बहुत मज़बूत हो गई है। यह कहने का प्रयत्न किया जायगा कि किस प्रकार यह नींव मज़बूत की गई है।

तरल तथा मारुत पदार्थ में एक विशेष गुण है जो कठिन पदार्थ में नहीं है। इसको दाब कहते हैं। कठिन पदार्थ जिसके आधार पर रहता है उसको नीचे की ओर दाबता है, परन्तु तरल और मारुत पदार्थ चारों ओर अर्थात् ऊपर-नीचे दबाते हैं। एक घड़ा पानी भर कर उस घड़े के एक ओर छेद करने से उस छेद से होकर पानी निकलने लगता है, परन्तु घड़े में बालू भर देने से ऐसा नहीं होता। घड़े के पेंदे में छेद करने से तो बालू निकलता है, पर किनारे छेद करने से नहीं। और एक बात है कि कठिन पदार्थ के किसी एक स्थान को दबाने से दाब सिर्फ़ उसी स्थान पर पड़ती है परन्तु तरल और मारुत पदार्थ के चाहे जिस अंश को दाबो वह दाब चारों ओर फैल जायगी। दहिने कंधे में बोझा रखने से दहिने तथा बायें में रखने से बायें में दाब पड़ती है, परन्तु एक पिचकारी में पानी भर कर दाबने से वह दाब संपूर्ण पिचकारी पर पड़ती है। इसका परिचय पिचकारी के किसी स्थान में छेद करने से मिलता है। तरल तथा मारुत पदार्थ में इस विशेषता के कारण चपलता दृष्टिगोचर होती है। कठिन पदार्थों में चपलता नहीं है। वे स्थिर तथा गम्भीर हैं। जल तथा वायु चपलता के लिए प्रसिद्ध हैं। इसी चपलता के कारण, बिना किसी असुविधा के, लोटे का पानी कटोरे में और कटोरे का पानी लोटे में उँड़ेला जा सकता है तथा अमोनिया की शीशी खोलते ही उसकी बू मालूम होने लगती है। इस चपलता के न रहने पर "वृष्टिः पतति" तथा "वायुर्वहति" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग किया जाना सम्भव नहीं

था तथा यहाँ पर सन्देह होता है कि "गौः शब्दायते" का प्रयोग होता कि नहीं। कठिन तथा तरल पदार्थ के भेद के विषय में यह कहा जा सकता है कि कठिन पदार्थ का पहाड़ होता है और तरल का नहीं। भूगोल-विवरण में बर्फ़ के पहाड़ का उल्लेख है परन्तु जल के पहाड़ का नहीं। पानी को धान या बालू की तरह स्तूपाकार नहीं कर सकते।

जल और वायु चारों ओर दबाते हैं तथा उनके एक अंश को दबाने से वे सर्वत्र फैल जाते हैं इसी से इनमें चपलता है। इस चपलता को समझने के लिए इनकी आणविक बनावट का अनुमान करना पड़ता है। दुर्ग की चहार-दिवाली को दबा कर तोड़ने की दो प्रणालियाँ हैं। प्राचीन समय में हाथी के धक्के से दीवाल गिराते थे और आजकल तोप के गोलों से धक्का देकर गिराते हैं। पानी का दाब समझने के लिए ख़याल करो, पानी के भीतर बहु-संख्यक अणु दौड़-धूप कर रहे हैं तथा वायु में वायविक अणु। कठिन पदार्थ में चाञ्चल्य नहीं है इसी से उनके अणु उस प्रकार नहीं दौड़ते। इस घर में जो हवा है वह दीवाल, छत सर्वत्र धक्का दे रही है। हम लोगों के शरीर पर भी उसकी दाब पड़ती है। चारों ओर से बराबर दाब पड़ने से हम लोगों को कुछ मालूम नहीं होता, नहीं तो उस दाब का परिमाण इतना अधिक है कि एक सेर दाब पड़ने पर हम लोग मसल जायँ। एक गिलास में मुँह लगा कर उसके भीतर के वायु को चूसने से बाहर के वायु की दाब के सबब से गिलास मुँह पर चिपक जाता है। पिच-कारी में बाहर के वायु की दाब की वजह से पानी भरता है।

इस दाब का कारण वायु की चपलता है। वायु चपल है तथा उसके अणु चञ्चल हैं। इस घर में जो करोड़ों वायविक अणु हैं वे दौड़ रहे हैं तथा छत और दीवाल को धक्के दे रहे हैं। अणु बहुत ही छोटे होते हैं। उनका धक्का अगण्य है, परन्तु जब कोटि-कोटि अणु सेकेंड में करोड़ों बार धक्के देते हैं तब "अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्य्यसाधिका" की कहावत चरितार्थ होती है। उस समय उस धक्के का परिणाम अगण्य नहीं होता। बोतल में काग लगा देने से भीतर कुछ वायु बन्द हो जाता है और हम लोगों को वह स्थिर ज्ञात होता है, परन्तु उस हवा की दाब बोतल पर पड़ती है और उसी दाब की वजह से वायविक अणु दौड़ते रहते हैं।

यह अनुमान करना कठिन है कि इस घर में कितने करोड़ वायविक अणु हैं तथा एक अणु का वज़न कितना है; परन्तु यह कहना उतना कठिन नहीं है कि वे किस वेग से दौड़ रहे हैं। एक-एक अणु का वज़न न मालूम रहने पर भी सम्पूर्ण अणुओं का वज़न अर्थात् सम्पूर्ण वायु का वज़न मालूम है तथा इसका भी हिसाब है कि सम्पूर्ण अणु की दाब दीवाल पर कितनी पड़ रही है। इससे हिसाब करने पर यह मालूम हो सकता है कि कितने वेग से दबाने पर उतनी दाब पड़ सकती है। मैं यहाँ पर यह हिसाब नहीं लगाना चाहता, पर हिसाब लगाने से ज्ञात होगा कि अणुओं का वेग कुछ कम नहीं होता। हम लोगों में से कोई उतने वेग से नहीं दौड़ सकता। रेलगाड़ी से भी उसकी तुलना नहीं हो सकती। यदि रेलगाड़ी घंटे में हज़ार मील की चाल से जाती तो इससे रेलगाड़ी की तुलना हो सकती थी। वायु का

चाञ्चल्य सर्वजन-विदित होने पर भी स्थिर वायु के अणुओं का यह वेग बहुतों को मालूम नहीं है; परन्तु यह न मानने से काम नहीं चलता। इस अनुमान के अतिरिक्त स्थिर वायु की दाब के जानने का और दूसरा उपाय नहीं है। अभी तक दूसरे उपाय का अवलम्बन कर किसी ने इसको सिद्ध नहीं कर पाया है। ठंडे वायु से गर्म वायु की दाब ज्यादा होती है। एक बड़ी बोतल के वायु को दबा कर एक शीशी में भर जाने पर धक्के का ज़ोर बढ़ता तो नहीं पर धक्कों की संख्या अधिक हो जाती है। पहले जितने समय में जितनी बेर धक्का लगता था अब उतने समय में ज्यादा बेर धक्का लगेगा। इसका परिणाम यह होता है कि दाब की मात्रा अधिक हो जाती है।

वायु की दाब उदाहरणरूप दी गई है। इस सिद्धान्त का मारुत पदार्थ तथा जल की नाईं तरल पदार्थ में प्रयोग हो सकता है। मारुत पदार्थ को ठंडा करके दबाने से वह तरल हो जाता है। आजकल बोतलों में तरल वायु बिकता है। यह प्रश्न हो सकता है कि मारुत वायु और तरल वायु में क्या अन्तर है?

भेद थोड़ा-बहुत इस प्रकार का है। एक मैदान में चारों ओर से दीवाल उठा कर उसमें कुछ स्कूल के लड़के छोड़ दिये जायँ। उनकी आँखों पर पट्टी बाँध देने से अच्छा होगा। वे लोग आनन्द के साथ उस मैदान में दौड़ें। वे दौड़ते-दौड़ते दीवाल से धक्का खा कर दूसरी ओर दौड़ेंगे और परस्पर में भी धक्का-मुक्की होगी। इस प्रकार वे परस्पर धक्का देंगे तथा दीवार से भी ठोकरें खायेंगे। बोतल के भीतर या इस घर के भीतर

वायुराशि में जो अणु हैं उनकी भी ऐसी ही अवस्था है। बोतल के भीतर जलीय वाष्प बन्द कर देने से उसकी भी थोड़ी बहुत यही अवस्था होती है। अणुओं के बीच में बहुत अवकाश रहता है। उस खुले हुए स्थान में वे दौड़ते रहते हैं और परस्पर धक्का देते हैं तथा दीवाल से ठोकर खाते हैं।

वायु या जलीय वाष्प जब तरल वायु या तरल जल में परिणत होता है उस समय उसकी अवस्था परिवर्तित हो जाती है। मानों वे लड़के स्कूल के हॉल में बन्द कर दिये गये हैं, पर अभी मास्टर नहीं आये। उस समय उनको बेञ्च पर बैठाना बड़ा कठिन है। वे घर में दौड़ेंगे तथा ऊधम मचावेंगे; परन्तु संकीर्ण स्थान होने की वजह से उनको बहुत दौड़ने का अवकाश नहीं मिलेगा। घर छोटा तथा बालकों की संख्या अधिक होने से आपस में धक्का-मुक्की अधिक होगी तथा दीवाल से भी ठोकर लगेगी। उन्हें स्थानाभाव से स्वाधीनता-पूर्वक दौड़ने का सुभीता नहीं मिलेगा। तरल पदार्थों के अणुओं की भी थोड़ी-बहुत इसी प्रकार की अवस्था होती है।

तरल पदार्थ ठंड लगने पर कठिन हो जाता है। पानी दानेदार होकर बर्फ़ हो जाता है। कठिन होने के समय बहुत से तरल पदार्थ दानेदार होते हैं। दाने को अँगरेज़ी में crystal कहते हैं। कृस्टल की बनावट में शृङ्खला, नियम तथा कारीगरी है। इस समय कठिन अवस्थापन्न अणुओं की ऐसी अवस्था होती है, मानों मास्टर साहब दर्जे में आ गये हों, मानों लड़के क़तार बाँध कर बेञ्च पर बैठे हों। उस चपलता, दौड़-धूप का

लोप हो शृङ्खला तथा संयम विराज रहा है। बेञ्च के बाद बेञ्च है तथा कतार में बैठे हुए लड़कों की कैसी शोभा हो रही है।

इस समय सब अपनी-अपनी जगह पर बैठे हुए हैं। आपस में धक्का मुक्की तो है ही नहीं; दीवाल पर ठोकर का भी अभाव है। हाँ, देह से देह ज़रूर रगड़ खा जाती है। पहले की तरह चपलता नहीं है; पर यह नहीं कह सकते कि चाञ्चल्य है ही नहीं। इस सभास्थल में जो लोग इस प्रबन्ध-पाठक की तरह मास्टरी-तथ्य से परिचित हैं उनको ज्ञात होगा कि मास्टर साहब की उपस्थिति की बात जाने दीजिए, बेत-दण्ड भी लड़कों का चाञ्चल्य निवारण करने में सर्वतोभाव से समर्थ नहीं होता। वे अपनी जगह पर बैठे रहने पर सिर हिलाना, हस्तान्दोलन, और पैर हिलाना इत्यादि नाना प्रकार की चञ्चलता करते हैं। मास्टर साहब क्या उन सब बातों को देखते रहते हैं? इन बातों का देखना असम्भव है। कठिन पदार्थ के अणु में भी पहले की तरह चपलता नहीं है। वे दौड़ते नहीं या दौड़ ही नहीं सकते; श्रेणीबद्ध हो अपने-अपने स्थान पर ही काँपते तथा हिलते रहते हैं। वे आधार-पात्र पर सर्वत्र दबाव नहीं डाल सकते। ऊपर या अगल-बगल दबाने की क्षमता उनमें नहीं है, पर बेञ्च पर ही थोड़ी-बहुत बदमाशी करते हैं। तीनों अवस्थाओं में अणुओं की संख्या बराबर रहती है, परन्तु उनकी चपलता परिवर्तित होती रहती है। मारुत के अणु बहुत चपल हैं। वे जिधर पाते हैं उसी ओर दौड़ने लगते हैं। रेलगाड़ी से भी उनका वेग अधिक होता है। दौड़ने पर, आधारपात्र से धक्का लगने पर, वे दूसरी ओर

दौड़ने लगते हैं। दौड़ने में परस्पर धक्का-मुक्की होती है। तरल के अणु भी बड़े चपल होते हैं, परन्तु संकीर्ण स्थान में कुछ रुकावट आ जाती है तथा उनकी उतनी स्वाधीनता संकीर्ण स्थान में नहीं रहती। धक्का-मुक्की बहुत होती है तथा वे पात्र से भी टकराते हैं।

कठिन पदार्थ के अणु में वैसी चपलता नहीं है। ये दौड़ नहीं सकते। पर यह नहीं कह सकते कि इनमें कोई नहीं दौड़ता। यदि करोड़ों अणुओं में दो-चार हज़ार दौड़ कर निकल जायँ तो उनकी गिनती न करनी चाहिए। क्या क्लास के लड़के मास्टर को धोखा देकर बाहर नहीं चले जाते? परन्तु उनमें से अधिकांश ही अपने स्थान पर रहते हैं। इस समय वे पात्र पर धक्का दे नहीं सकते। पर हाँ, अपने स्थान पर कुछ चाञ्चल्य प्रकाश करते हैं। इसी चाञ्चल्य के प्रकाश करने का परिणाम उष्णता है।

कहने का तात्पर्य्य यह है कि जड़ पदार्थों की तीन अवस्थाओं—अर्थात् कठिन, तरल, तथा मारुत—का विशिष्ट गुण इस प्रकार अच्छी तरह समझ में आने लगता है। इन विशिष्ट तथा मुख्य गुणों के अतिरिक्त और भी कई एक गुण इस अणुघटित अनुमान से समझ में आते हैं। यह बात दूसरे प्रकार से वैज्ञानिकों की समझ में आने से ही वे लोग इस प्रकार का अनुमान किये बैठे हैं कि संपूर्ण जड़-पदार्थ अणुओं के समवाय से बने हुए हैं।

अणु के टुकड़े हो सकते हैं या नहीं? पदार्थ-विद्या-विशारद इसके विषय में कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देते, परन्तु वैज्ञानिकों का एक दूसरा दल है जिसको रसायन-वेत्ता कहते हैं। वे लोग दूसरे दलवालों को कहते हैं कि अणु के भङ्ग न होने पर उनका

काम ही नहीं चल सकता। तुम लोग कहते हो कि जल का अणु जल का सूक्ष्मतर अंश है। उससे छोटे जल के अणु की कल्पना नहीं हो सकती। उस अणु को भंग करने से यह जल कण के रूप में नहीं रहेगा, दूसरी चीज़ हो जायगा। अच्छी बात है, वैसा होने दो। हम लोगों का तो यही काम है कि दूसरी चीज़ के होने के व्यापार का तत्त्व आविष्कार करें। हम लोग एक वस्तु को दूसरी वस्तु में रूपान्तरित करते हैं। हम लोगों का काम यह है—सिन्दूर से पारा निकालते हैं, पारे को सिन्दूर बनाते हैं। तूतिया से ताँबा निकालते हैं, गन्धक जला कर गन्धक-द्रावक तैयार करते हैं और उस द्रावक को दस्ते पर छोड़ कर एक प्रकार की गैस उत्पन्न करते हैं जो देखने में तो हवा की तरह होती है, पर उसमें आग लगा देने से झट आवाज़ पैदा होती है अथवा वह धक से जल उठती है। इस गैस को हम लोग हाइड्रोजन गैस कहते हैं। और पटाश को, जिससे लड़के पटाखा बनाते हैं, गर्म कर एक प्रकार की गैस तैयार करते हैं जो देखने में हवा की तरह है, और उसमें चिराग़ की बत्ती बहुत दीप्ति-सहित जलती है तथा तप्त लोहा कागज़ की तरह जल जाता है। इसको हम लोग आक्सिजन कहते हैं। पुनः पानी को, जो मनुष्य का जीवन है, हम लोग बिना परिश्रम के दो प्रकार की गैस—उसी पूर्व-परिचित हाइड्रोजन और आक्सिजन—में रूपान्तरित कर देते हैं। तौल कर हम लोगों ने देखा है कि नौ तोले पानी से एक तोला हाइड्रोजन और आठ तोला आक्सिजन बनता है। चाहे वह जल गङ्गाजल हो या गोदावरी का जल हो,

कभी भी हम को इस अनुपात का उल्टा नहीं मिला। जहाँ हाइड्रोजन का एक भाग है वहाँ आक्सिजन का आठ हिस्सा है। साढ़े सात भी नहीं है और न सवा आठ है। सर्वत्र सर्वदा ठीक आठ हिस्सा मिलेगा। यह क्या मामला है। एक और दूसरा तरल पदार्थ है जो पानी नहीं है, देखने में तेल की तरह होता है। उसको हाइड्राक्सिल कहते हैं। उससे हाइड्रोजन और आक्सिजन उत्पन्न किया जा सकता है। तीसरा पदार्थ उसमें से नहीं उत्पन्न हो सकता। वहाँ पर किस प्रकार का अनुपात है? हाइड्रोजन का एक हिस्सा और आक्सिजन के कितने हिस्से? वहाँ न तो आठ, न दश, न पन्द्रह और न सत्रह भाग आक्सिजन के मिलेंगे। मिलेंगे केवल १६ भाग—अर्थात् आठ दूना सोलह। पानी में आक्सिजन के आठ भाग मिलते हैं तथा हाइड्राक्सिल में आठ दूने सोलह भाग। क्या बात है? पन्द्रह या सत्रह क्यों नहीं? इन बेचारों ने क्या क़सूर किया था? हम लोगों ने और भी बहुत सी चीज़ों से आक्सिजन निकाला है और उसको तौल कर देखा है कि हाइड्रोजन का एक भाग लेने पर आक्सिजन के आठ भाग लेने पड़ते हैं। या आठ दूना सोलह, या आठ तीन चौबीस और आठ चौक बत्तीस भाग लेने पड़ते हैं; मानो आठ का पहाड़ा याद करते हों। आक्सिजन से इस आठ का क्या सम्बन्ध है? इसका यह तात्पर्य्य है कि आक्सिजन जिस वस्तु के साथ रहता है उसमें आठ की भाज्य कोई संख्या वर्तमान रहती है।

इसका तात्पर्य्य इस प्रकार समझ सकते हैं। पानी को जब

हम लोग दूसरे पदार्थ में—आक्सिजन और हाइड्रोजन में—परिणत करते हैं, उस समय यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जल के अणु का भङ्ग कर रहे हैं। तुम लोग कहोगे कि जल के अणु को तोड़ने से उसमें जलत्व नहीं रहेगा, यह दूसरी चीज़ हो जायगी। हम लोग तो यही चाहते हैं। जल के अणु को तोड़ने से जो मिलता है वह जल नहीं है—वह हाइड्रोजन तथा आक्सिजन का सूक्ष्मतम अंश है। इसको परमाणु कह सकते हैं। हम लोगों को अणु के तोड़ने पर परमाणु मिलता है। दो प्रकार के परमाणु, पहला हाइड्रोजन तथा दूसरा आक्सिजन का परमाणु मिलता है। ख़याल करो, यह आक्सिजन का परमाणु हाइड्रोजन के परमाणु से अठगुना भारी है। अब यह समझा जायगा कि क्यों हाइड्रोजन के साथ आक्सिजन का यह अनुपात है। यदि जल के प्रत्येक अणु से हाइड्रोजन का एक परमाणु तथा आक्सिजन का एक परमाणु मिले और यदि आक्सिजन का परमाणु हाइड्रोजन के परमाणु से अठगुना भारी हो तो इस प्रकार के अनुपात के होने का कारण स्पष्टतः समझ में आ जाता है। एक बूँद जल में करोड़ों जल-अणु हैं। जितने अणु हैं उनमें से हर एक को तोड़ने से उतने करोड़ परमाणु हाइड्रोजन तथा आक्सिजन के मिलेंगे और आक्सिजन का प्रत्येक परमाणु हाइड्रोजन के परमाणु से अठगुना होगा; अतएव आक्सिजन के करोड़ परमाणुओं का वज़न हाइड्रोजन के करोड़ परमाणुओं से अठगुना होगा। इसी से दोनों का अनुपात एक और आठ है। इसका समझना भी सहज है कि हाइड्राक्सिल में आक्सिजन १६ भाग

क्यों रहता है। जल के अणु को तोड़ने से आक्सिजन का एक अणु मिलता है। मान लो हाइड्राक्सिल के अणु को तोड़ने पर आक्सिजन के दो परमाणु मिलते हैं। एक परमाणु का वज़न आठ होने से, दो का सोलह होगा। इसी प्रकार और दूसरे किसी द्रव्य के अणु को तोड़ने पर यदि आक्सिजन के तीन परमाणु मिलें तो वहाँ आक्सिजन का २४ भाग रहेगा, चार के रहने पर आठ चौक बत्तीस भाग रहेगा इत्यादि।

आठ के साथ आक्सिजन के सम्बन्ध की बात यहाँ तक हुई। आक्सिजन का आठ हिस्सा तथा सोलह हिस्सा रहता है; पर इनके बीच का नहीं रहता अर्थात् दस भाग, चौदह भाग यहाँ तक कि आठ डेवढ़े बारह भाग भी नहीं रहता। इसके क्या मानी? इसक यह तात्पर्य्य है कि आक्सिजन का परमाणु तोड़ा नहीं जा सकता।

अब यह बात तय पाई कि एक बूँद पानी में करोड़ों अणु हैं। इसका निर्देश करना बहुत कठिन है कि एक बूँद में कितने करोड़ अणु रहते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है कि इसका निर्देश हो न हो सकता हो। अणु बहुत सूक्ष्म तथा इन्द्रियों के अगोचर हैं। इसका भी निर्देश करना कठिन है कि अणु कितने बड़े होते हैं परन्तु इसका निर्देश हो सकता है, पर अतीव कठिनता से। संख्या-द्वारा इसके निर्देश करने की चेष्टा की गई है पर उसमें अनुमान की भी सहायता ली गई है, तथापि उस निर्देश में अधिक भूल की सम्भावना नहीं। इसके बतलाने में प्रबन्ध बहुत बढ़ जाता है कि किस प्रकार इसके निर्देश करने की चेष्टा की गई है; तथापि साधारणतः इस प्रकार कह सकते हैं

कि एक बूँद पानी को यदि किसी प्रकार पृथ्वी के इतना बड़ा करें, जिसकी परिधि ५० हज़ार मील है, तो उस बूँद के अणु का परिमाण बेल के ऐसा होगा। ख़ैर जो हो, ये जलीय अणु हैं; तथा जलीय बाष्प के खुले मैदान में दौड़ते रहते हैं, और तरल जल में आपस में रगड़ते हुए, धक्का देते हुए दौड़ते हैं एवं कठिन बर्फ़ में क़तार बाँध कर अपने स्थान पर काँपते रहते हैं। इन अणुओं के तोड़ने पर परमाणु मिल सकता है; परन्तु उसमें जलत्व नहीं रहता। वे आक्सिजन तथा हाइड्रोजन के परमाणु हैं। हाइड्रोजन का परमाणु सब से हलका होता है तथा आक्सिजन का उससे अठगुना भारी होता है। इन परमाणुओं को तोड़ नहीं सकते। एक, दो, चार, दश, बीस, दो सौ, दश लाख, दश करोड़ परमाणु हो सकते हैं; परन्तु डेढ़, अढ़ाई, पौने पाँच परमाणु का अस्तित्व नहीं है। यदि ऐसा होता तो आक्सिजन का आठ भाग, सोलह भाग न होकर बारह, चौदह भाग की भी सम्भावना होती। और भी—जल से हाइड्रोजन मिलता है; परन्तु हाइड्रोजन से हाइड्रोजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि जल के अणु में हाइ-ड्रोजन वर्त्तमान है; पर हाइड्रोजन के परमाणु के तोड़ने से और दूसरे प्रकार का सूक्ष्मतर परमाणु मिल नहीं सकता। अतएव परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य तथा अविभाज्य है।

इस प्रसङ्ग में एक और बात उठाने के प्रलोभन को रोकना मेरी सामर्थ्य से बाहर है। पार्थिव द्रव्यों के परमाणु के जानने के दो उपाय हैं—(१) गणना तथा (२) माप करना। हम लोग इस

बात की गणना करते हैं कि गोशाला में कितनी गायें हैं, पाठशाला में कितने लड़के हैं, सभा में कितने सभ्य हैं, पेड़ में कितने फूल लगे हैं इत्यादि; तथा प्रश्न करते हैं कि कितनी गायें, कितने लड़के, कितने फूल इत्यादि। परन्तु यदि प्रश्न किया जाय कि इस लोटे में कै पानी हैं, इस पेड़ में कै लकड़ियाँ हैं, इस रुपये में कै चाँदी हैं–तो प्रश्न हास्यकर हो जाता है। इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता। हम लोग अनायास गिन सकते हैं कि सभापति महाशय की गोशाला में या सम्पादकजी की गोशाला में ज़्यादा गाएँ हैं, परन्तु इसको गिन नहीं सकते कि इस गमले में पानी अधिक है, या उस गमले में। इसके लिए हम लोगों को मापना पड़ता है। मापने के क्या मानी हैं? फ़र्ज़ करो, इस गमले का पानी नापना होगा। एक लोटा लिया। उसमें जितना पानी आता है उसको एक सेर कहेंगे तथा लोटे को कहेंगे सेर भर का लोटा। अब गमले से लोटा भर भर पृथक् पृथक् पानी नापने पर थोड़ा सा पानी बच रहा जिससे लोटा नहीं भरता। तब एक छोटी लुटिया ली जिसको छटाँक भर की लुटिया कहेंगे। फिर तेरह बेर छटाँक की लुटिया से नापने पर कुछ पानी बच रहा जो छटाँक से कम है। अब एक छोटा गिलास लिया जिसमें तोला भर पानी समाता है। तीन गिलास पानी भरने के बाद थोड़ा पानी बच रहा। आख़िरकार लाचार होकर उतना पानी फेंक दिया और कहने लगे कि इस गमले में दस सेर, तेरह छटाँक तथा तीन तोला पानी है। इसको पानी नापना कहते हैं। पर क्या पानी ठीक ठीक नापा गया? हमने लाचार होकर

जितना पानी फेंक दिया वह कितना होगा? यदि उसको नापते तो तोले के गिलास से भी एक छोटा गिलास लेना पड़ता और यदि उससे भी नापने के बाद कुछ बच रहता तो उसके नापने के लिए और भी छोटा गिलास लेना पड़ता। चाहे जितना छोटा क्यों न लो, कुछ न कुछ पानी अवश्य बच रहेगा। लाचार होकर एक वक्त रुकना ही पड़ेगा, तब उतने किञ्चित् बचे हुए पानी को फेंक देना होगा। नापने में भी कुछ ग़लती रह जायगी। यद्यपि वह भूल सामान्य तथा अकिञ्चित्कर है तथापि उसकी गणना तो ग़लती में है। गिनने में ऐसी ग़लती की सम्भावना नहीं। गिनने की वस्तु चाहे जितनी अधिक क्यों न हो, यदि गिनने के लिए वक्त मिला और धोखा न दिया गया तो निर्भ्रान्त गणना, कष्टसाध्य होने पर भी, असाध्य नहीं है। भारतवर्ष की मर्दुमशुमारी दस वर्ष के बाद की जाती है। उसमें कुछ न कुछ ग़लती रहती है क्योंकि जिनके ऊपर इसका भार रहता है वे या तो धोखा देते होंगे या जिनको गिनना होगा, उनसे उनकी भेंट न होती होगी। इन सब त्रुटियों के कारण भूल होती है; पर निर्भूल गणना का होना असम्भव नहीं है। यदि मिहनत कर गिना जाय तो टिड्डियों के दल की, समुद्र के बालुओं की तथा आकाश के तारों की गणना निर्भूल हो सकती है। परन्तु गमले भर पानी का निर्भूल मापना असम्भव है। तोले के सहस्रांश तक का मापना सम्भव है पर उससे कम होने पर हम लोगों को हार माननी ही पड़ेगी। इसी से नापने पर कुछ भूल अवश्य रहेगी, परन्तु गिनने में ऐसी ग़लती की सम्भावना नहीं।

इस प्रभेद के होने का निम्न-लिखित कारण है:—

जो पदार्थ अविभाज्य हैं उनकी गणना हो सकती है और जो विभाज्य हैं उनकी गणना नहीं हो सकती। मनुष्य के दो टुकड़े हो सकते हैं; पर ऐसा होने से खण्ड भाग में मनुष्यत्व नहीं रहता। गाय को दो टुकड़े करने की किसी की सम्मति न होगी तथा ऐसी आशा भी नहीं की जाती है। फूल को नोच डालने से वह फूल नहीं रहता। रुपये के दो टुकड़े करने से बाज़ार में कोई उसे नहीं लेगा। कटहल के टुकड़े करने से यद्यपि खाने में उसका उपयोग हो सकता है तथापि उसको कटहल "फल" नहीं कहेंगे। अतएव जिसका खण्ड नहीं है, भग्नांश नहीं है, इसी से उसकी गणना हो सकती है। बाज़ार में हम लोग साढ़े पाँच गंडा (गाही) आम मोल लेते हैं पर साढ़े पाँच आम नहीं मोल ले सकते। किसी से कभी डेढ़ मनुष्य तथा ढाई हाथी की बात न सुनी होगी। इसका उलटा, जिसकी गणना नहीं हो सकती तथा जो नापा जा सकता है उसका लक्षण विभाज्यता है। एक लोटा पानी तथा एक बूँद पानी के सौ भाग कर सकते हैं। इसी से डेढ़ सेर, साढ़े तीन छटाँक, पौने पाँच तोला कहते हैं। फूल, फल, घोड़ा, हाथी इत्यादि विभाज्य वस्तु नहीं हैं। इसी से इनकी गणना होती है, और पानी, तेल, दूध के विभाज्य होने के कारण इनकी गणना नहीं की जाती।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि यदि वास्तव में जल बहुसंख्यक अणुओं के समवाय से बना है तो जल को भी गणना योग्य क्यों नहीं कहते? एक बूँद जल, करोड़ों टुकड़े करने पर जब अणु

मिलेगा उस समय, उसको विभक्त करने पर जलत्व नहीं रहेगा क्योंकि वह दूसरे पदार्थ का परमाणु हो जायगा। यदि बात ऐसी ही है तो गाय, बैल, फूल, फल की तरह जल के अणुओं की भी गणना हो सकती है। और यदि हम लोग एक बूँद जल के अणु की संख्या की गणना कर सकते तो जल के परिमाण-निर्देश करने में ग़लती की सम्भावना न होती।

बात ठीक है। यदि अणु के समवाय से जल बना हुआ हो तो उसके अणुओं की संख्या की गणना कर उसके परिमाण का निर्देश करना असम्भव नहीं है। पर गिनते क्यों नहीं ? क्योंकि अणु इन्द्रियों के अगोचर हैं। इनको छू तथा पकड़ नहीं सकते। यदि कभी इस प्रकार के यन्त्र का आविष्कार हुआ जिससे अणु इन्द्रियगोचर हो सकें तो जो धैर्यवान् पुरुष होगा तथा जिसको इस बात के निकालने का समय है उसके लिए समुद्र के जल के अणुओं की भी गणना करना असम्भव नहीं होगा। परन्तु अभी तो गणना नहीं हो सकती। अन्दाज़ से संख्या गणना करने की चेष्टा की गई है; परन्तु उसमें बहुत ज़्यादा ग़लती न होने पर भी एक एक कर निर्भूल गणना करना असम्भव है। इसी से हम लोग नाप कर जल के परिमाण का निर्देश करते हैं। उसमें कुछ ग़लती अवश्य होती है ; परन्तु उसकी हम लोग परवा नहीं करते।

जहाँ कठिनता से गणना होती है वहाँ नाप कर काम चलाने की ही प्रथा है। जिसके असीम धैर्य्य है उसको चावल को एक एक गिन कर मोल लेने में दूकानदार धोखा न दे सकेगा। परन्तु इतना धैर्य्य किसमें है ? हम लोग गिन कर

चावल नहीं मोल लेते। मन, सेर, छटाँक तथा तोले तक तौलते हैं। और तोले से कम का कुछ ख़याल नहीं करते। तोले से कम का ख़याल करने पर कम ठगना पड़ता है सही, पर चावल के मूल्य की अपेक्षा वहाँ समय का मूल्य अधिक हो जाता है। जिनका काम आसमान के तारों, नदी की बालू तथा वायु में धूलि-कण के गिनने का है उन्हीं को यह काम करना मुबारक हो। साधारण मनुष्य से तो इससे कुछ सरोकार नहीं है।

यहाँ हम परमाणु-प्रसङ्ग की समाप्ति कर आप लोगों को छुट्टी दे देते; परन्तु इधर जो नई बात का प्रसङ्ग उठा है उसका कुछ उल्लेख न करने से आप लोग कहेंगे कि कुछ न हुआ। इसी से कुछ और थोड़ी तकलीफ़ दूँगा।

रसायनवेत्ता जिन मूल अर्थात् तत्व पदार्थों को परस्पर मिलाकर यावतीय पार्थिव पदार्थों को बना सकते हैं उनकी संख्या लगभग ८० है। अतएव परमाणु में भी इतना ही जाति-भेद स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु मानव-समाज में जिस प्रकार जाति-भेद सब को अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार परमाणु-समाज में भी जातिभेद अच्छा नहीं देख पड़ता। लड़कपन में चाँदी और मुलम्मे की अँगूठी के झगड़े को पढ़ा था। याद पड़ रहा है कि चाँदी की अँगूठी ने कहा था कि "अल्लाह रे! मुलम्मे की अँगूठी की यह बन-ठन!" जाति-भेद होने के कारण यह विवाद इन दोनों में हुआ था। इतिहास के देखने से इसका पता नहीं चलता कि इस जातिभेद को उठा देने के लिए कोई सोशल कान्फ़रेन्स बैठी थी या नहीं। यह सोचने में कष्ट मालूम होता

है कि यह जातिभेद विधाता का अभिप्रेत है। इसी से वैज्ञानिकों में जो साम्यवादी हैं वे मन ही मन परमाणुवाद के विषय में कुछ संदेह करते हैं। जो एक जाति के परमाणु हैं उन्होंने गुट्ट बना कर तथा झुण्ड बाँध इस वैषम्य की सृष्टि की है। इस प्रकार विचार करने पर विधाता का कोई दोष प्रतीत नहीं होता। इसी से साम्यवादियों को आशा है कि किसी न किसी दिन एक प्रकार के परमाणु का होना सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् वास्तव में ब्राह्मण-शूद्र में भेद नहीं है पर परमाणु को अविभाज्य मानने से जाति-भेद मानना पड़ता है। और भी जिस प्रकार अणु के तोड़ने पर परमाणु मिलता है उसी प्रकार परमाणु भङ्ग नहीं किया जा सकता। अभी तक तो इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता था।

अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता था तथा यह सिद्ध नहीं हुआ था, पर अब यह सिद्ध हो गया है। तीस वर्ष होने को हैं कि सर विलियम क्रूक्स ने अपने आविष्कृत नये तथ्य पर निर्भर कर कहा था कि हमने एक ऐसी नये प्रकार की जड़ कणिका का आविष्कार किया है जिसको प्रोटाइल कहते हैं तथा जिस कणिका के समवाय से परमाणु बनता है। क्रूक्स की इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया था; परन्तु अब इस बात पर ध्यान न देने से काम नहीं चलता। नाना देशों के पण्डित नाना पथ से भ्रमण कर इस सिद्धान्त पर उपनीत हो रहे हैं। यह समय उस कहानी के लिखने का नहीं है। अब ज्ञात होता है कि परमाणु का तोड़ना बहुत सहज है। अभी तक जानते थे कि हाइड्रोजन-परमाणु की अपेक्षा सूक्ष्मतर पदार्थ दुनियाँ में नहीं है।

पर अब ज्ञात होता है कि हाइड्रोजन को तोड़ कर उसके टुकड़े किये जा सकते हैं। परमाणु के एक एक टुकड़े के वेग की बात सुनिए। हज़ारों टुकड़ों को एकत्र करने से एक परमाणु बनता है। सम्भव है कि इन कणिकाओं के एकत्र होने से हाइड्रोजन-परमाणु बना होगा। हाइड्रोजन ही की बात नहीं, सम्पूर्ण परमाणु —द्विजोत्तम सुवर्ण से लेकर निकृष्ट काफ़िर लोहे तक—को तोड़ कर इस प्रकार की कणिका मिल सकती है। कणिकाओं का चाल-चलन बहुत अद्भुत है। अभी तक हम लोग केवल अणु और पर-माणु को ही चपल समझते थे। वे स्थिर रहना नहीं जानते, सिर्फ़ दौड़ते रहते हैं। परन्तु इन कणिकाओं की चपलता के सामने इनकी चपलता कुछ नहीं है। एक सेकेंड में लाख मील चलना उनके लिए असम्भव नहीं। इस घर में जो अणु हैं वे रेल की अपेक्षा अधिक वेग से दौड़ रहे हैं। परन्तु इन कणिकाओं की चपलता के सम्मुख यह कुछ भी नहीं है। वास्तव में ये कणिकाएँ बहुधा प्रति सेकेंड लाख मील के हिसाब से दौड़ती हैं। बहुतों ने "रेडियम" नामक नवाविष्कृत धातु की बात सुनी होगी। उसके परमाणु भङ्गप्रवण होते हैं तथा सर्वदा टूटते रहते हैं। उससे यह कणिका सर्वदा निकल रही है। उसके वेग की बात सुनिए। सम्पूर्ण परमाणु में सहस्रशः ऐसी ऐसी कणिकाएँ परस्पर में सटी रहती हैं, परन्तु क्या उनको आपस में सटा रहना स्वीकृत है? वे परमाणु से आबद्ध रहने पर भी वेग से दौड़ रही हैं तथा आकाश के समुद्र में धक्का देकर तरङ्ग को उत्पन्न करती हैं। मौक़ा मिलते ही वे छिटक कर बाहर चली जाती हैं। बाहर आने पर महावेग

से सरल मार्ग पर आकाश भेद कर दौड़ती रहती हैं। पास में एक चुम्बक के रखने से उनका रास्ता टेढ़ा हो जाता है। इस प्रकार की उनकी विचित्र लीला है। यहाँ पर एक और विषम समस्या उपस्थित होती है कि इन सूक्ष्म कणिकाओं को जड़ पदार्थ कहना चाहिए कि नहीं। सम्भव है कि यावतीय जड़ पदार्थ के परमाणु इन कणिकाओं से बने हों; तथा वे ही जड़ पदार्थ के उपादान हों। इनको जड़ कण न कहकर विद्युत्कण कहना ही सङ्गत ज्ञात होता है। ताड़ित् या इलेक्ट्रिसिटी से मनुष्य शत वर्ष से काम कर रहा है पर वह उसके स्वरूप को नहीं जानता। अब ज्ञात होता है कि जड़ परमाणु की सूक्ष्म कणिकाओं तथा तड़ित् में भेद नहीं है। ताड़ित् के स्वरूप के विषय में अभी तक झगड़ा चला आता था। प्राचीन विद्वान् इसको एक प्रकार का जड़ पदार्थ कहते थे। आधुनिक विद्वानों ने लगाम ही छोड़ दी थी। वे कहते थे कि यह नहीं कह सकते कि तड़ित् किस प्रकार का पदार्थ है, पर उसका प्रयोग कर सकते हैं। अब उन्होंने इस विषय में उल्टा सुर अलापना आरम्भ किया है। तड़ित् जड़ पदार्थ हो या न हो, पर जड़ पदार्थ ताड़ित् कण से बने हुए हैं। इस संसार में सिर्फ़ बिजली ही बिजली है तथा बिजली ही जड़ पदार्थ का उपादान है। परन्तु यहाँ पर भाषा में क्रमशः कठिनता पड़ती जाती है। यदि विज्ञान बुद्धि-अगम्य हो जाय तो वह अज्ञान हो जायगा। मैं यहाँ पर वैज्ञानिक प्रबन्ध को लिख रहा हूँ अतः यहाँ अज्ञान की आलोचना न होनी चाहिए। अतएव अब इस प्रबन्ध को यहीं समाप्त कर देना अच्छा होगा।

प्रलय

लड़कपन की बात है, एक दिन दादी ने कहा था कि पृथ्वी एक समय उलट जायगी। याद नहीं कि उस दिन गहरी नींद आई थी कि नहीं; पर केवल इतना स्मरण है कि मन में प्रबल बिभीषिका का सञ्चार हुआ था। उसके दूसरे दिन जब पढ़ने के लिए मदरसा गया तो मेरे एक प्रवीणतर मित्र ने धीरज देकर कहा कि इसमें संदेह नहीं है कि पृथ्वी का नाश होगा; परन्तु इसके लिए अभी लाखों वर्षों की देर है। इस आश्वासन-वाणी को सुन कर पृथ्वी के भविष्य नाश की अपेक्षा मास्टर साहब का वर्तमान सामीप्य मेरे लिए अधिक उद्वेग का कारण हुआ था।

सम्प्रति वैज्ञानिकों ने प्रलय-तत्त्व के विषय में नाना प्रकार की आलोचना तथा गवेषणा की है। उनकी आलोचना तथा गवेषणा के परिणाम का यदि हम दादी और मित्र की आश्वासन-वाणी से मिलान करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि विज्ञान-शास्त्र भी इससे कुछ अधिक नहीं बतलाता। प्रलय एक दिन होगा; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं; परन्तु उसके होने में अभी विलम्ब है।

विज्ञान की पोथी खोलने से हम को इस विषय के नाना प्रकार के सदुत्तर मिलते हैं। अध्यापक क्लिफ़ोर्ड ने सब की युक्तियों का सामञ्जस्य कर कहा है कि यह सत्य है कि पृथ्वी का ध्वंस होगा, परन्तु यह नहीं कह सकते कि गर्मी से होगा या

सर्दी से। अध्यापक जेवन्स का, जिन्होंने इस वैज्ञानिक विषय की विशेष प्रकार से समालोचना की है, मत है कि निस्सन्देह पृथ्वी नाश को प्राप्त होगी। लाखों बरसों बाद ही उसके होने की सम्भावना है; परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस घड़ी नहीं हो सकती। इस प्रकार का भला क्या और कोई सदुत्तर हो सकता है! इससे पाठकों को तृप्ति हो या न हो—इस सम्बन्ध में पाँच पण्डितों का जो मत है वही इस प्रबन्ध में लिखा जावेगा।

हम लोग पृथ्वी पर रहते हैं, अतएव दूसरे लोक की अपेक्षा भूलोक की बात पर हम लोगों को पहले विचार करना चाहिए। यदि कुछ दिन बाद भूमण्डल के टूट फूट जाने की सम्भावना है तो यह कहना पड़ता है कि ग्लैडस्टोन साहब का वानप्रस्थावलम्बन करने के समय आइरिश होमरूल के सम्बन्ध में इस प्रकार आन्दोलन करना अच्छा नहीं है।

प्रलय के विषय में पहली बात यह है—सौर जगत् रूप एक परिवार के अन्तर्गत हमारी पृथ्वी भी है। सूर्य्यमण्डल की जो कई एक छोटे बड़े ग्रह लाखों बरसों से परिक्रमा कर रहे हैं, उन ग्रहों में से एक हमारी पृथ्वी भी है। सूर्य्यमण्डल के प्रबल आकर्षण के कारण ये ग्रह सूर्य्यमण्डल को वेष्टन कर घूम रहे हैं, परन्तु परस्पर के आकर्षण के कारण कोई एक निर्दिष्ट मार्ग से जाने नहीं पाता। यही कारण है कि पृथ्वी भी एक निर्दिष्ट मार्ग से भ्रमण नहीं कर सकती। यह सर्वदा सूर्य्याकर्षण के निर्दिष्ट मार्ग से कुछ कुछ हट कर घूमती है। अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि इस निर्दिष्ट मार्ग से भ्रष्ट होने के कारण या कक्षाच्युति-

वशतः क्या ऐसा समय नहीं आ सकता जब दो ग्रह अकस्मात् एक स्थान में आ जाने के कारण परस्पर की रगड़ से चूर चूर हो जावें ?

इसका उत्तर देना ज़रा टेढ़ी खीर है। कोई सहज बात नहीं। न्यूटन ने दो पदार्थों के मध्य के आकर्षण के नियम का आविष्कार कर के भविष्य के पण्डितों पर एक प्रकाण्ड भार सौंप कर अपनी जान बचाई थी। संसार में यदि केवल दो ही पदार्थ होते तो इसके जानने के लिए कि कौन सा कब कहाँ पर रहेगा, कुछ परिश्रम न करना पड़ता; परन्तु दुःख का विषय है कि इस संसार में खण्ड पदार्थों की संख्या दो से बहुत अधिक है। न्यूटन के नियमानुसार परस्पर आकर्षण करते हुए तीन पदार्थों में कौन सा पदार्थ कब किस स्थान पर होगा, इसके जानने में गणितज्ञों का नाक में दम आ जाता है। चार पदार्थों की गति स्थिर करने में और भी कठिन समस्या उपस्थित होती है। इसमें संदेह नहीं कि यह समस्या कठिन है, तथापि यह देखना चाहिए कि लाप्लास इस समस्या की पूर्त्ति करने में कहाँ तक फलीभूत हुए हैं। लाप्लास ने इस बात को युक्ति द्वारा सिद्ध कर दिया था कि परस्पर के आकर्षण से ग्रहगणों की चिरस्थायी कक्षा की च्युति होने की आशङ्का नहीं है। जिस प्रकार एक धागे के आधार पर लम्बित पेंडुलम या परिदोलक अपने स्थान से सम्पूर्ण रूप से भ्रष्ट नहीं होता, केवल उसी स्थान को लक्ष्य कर इधर उधर हिलता रहता है उसी प्रकार प्रत्येक ग्रह सहचर ग्रहों के आकर्षणवशतः अपने पथ से केवल थोड़ा सा विचलित हो

जाता है; और फिर निर्दिष्ट पथ को लौट आता है। सौर जगत् में इस प्रकार का कोई ऐसा बल नहीं है जिसके द्वारा सर्वदा के लिए किसी ग्रह का मार्ग बदल जावे। अतएव सौर जगत् के ग्रहों के परस्पर टकरा जाने से महाप्रलय होने की कोई सम्भावना नहीं है।

लाप्लास इस सिद्धान्त के आविष्कर्त्ता हैं। उनके पश्चात् के गणितज्ञों को अभी तक इस युक्ति में कुछ भी सन्देह नहीं हुआ। कहने का तात्पर्य्य यह है कि लाप्लास का यह सिद्धान्त अभी तक अखण्ड है। यहाँ तक कि केम्ब्रिज-ट्रिनिटी कालेज के अध्यक्ष विख्यात ह्वीवेल साहब ने इसी सिद्धान्त के ऊपर निर्भर हो अहंकार-पूर्वक कहा था—देखो, विधाता का क्या ही अपूर्व कौशल है! सौर जगत् की नाईं ऐसे जटिल यन्त्र के भीतर भी इस प्रकार की सुनियत शृङ्खला है कि उस यन्त्र के कभी बिगड़ने की सम्भावना नहीं है! मा भैः, मानव, मा भैः! सौर जगत् का नाश नहीं है।

यह बात ठीक है कि लाप्लास की गणना में प्रमाद नहीं है; परन्तु एक और उपद्रव की सम्भावना है। सुन्दर, सुनियत सौर-जगत् के मध्य में न जाने कहाँ से कभी कभी एक आध भीमपुच्छ-धारी धूमकेतु आ जाते हैं, जिनके देखने से आज तक पण्डितों के मन में आतङ्क का सञ्चार होता है। धूमकेतु का उदय होने से महामारी या राष्ट्रविप्लव की आशंका करके घंटा-घड़ियाल बजाने की आवश्यकता चाहे लोग न समझें; परन्तु इनकी स्थिति, गति, आकार और अवयव इतने रहस्यपूर्ण हैं कि बिना आतङ्क हुए नहीं रहता। माध्याकर्षण ने अन्यान्य पदार्थों की नाईं धूमकेतु को भी अपने अधीन कर रक्खा है सही, परन्तु ये कहाँ पर रहते हैं,

कहाँ से आते हैं,—जब यह कुछ भी मालूम नहीं है, तब यह भी हो सकता है कि किसी ग्रह के—अज्ञात अनिर्देश्य स्थान से—माध्याकर्षण द्वारा अकस्मात् हम लोगों के निकट आ जाने से पृथ्वी को धक्का भी लगे। ऐसा होने पर पण्डितों को तर्क करने का अवसर भी नहीं मिलेगा। यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि आजकल यह आशङ्का कुछ कुछ निवारित हो गई है। आकार और आयतन में धूमकेतु चाहे जितने भयानक हों पर वे बहुत ही हलके होते हैं अर्थात् जो धूमकेतु आयतन में दश पृथ्वियों के समान है, तौलने पर वह दश छटाँक भी नहीं निकल सकता। अतएव दश पृथ्वियों की बात जाने दीजिए, दश हज़ार सूर्य्य के आयतन के समान होने पर भी धूमकेतु का धक्का भयानक नहीं हो सकता। ऐसा भी सुना जाता है कि हाल ही में हमारी पृथ्वी को धूमकेतु का धक्का भी लगा है। उस समय अतिरिक्त मात्रा से उल्कावृष्टि के सिवा कोई और उत्पात दृष्टिगोचर नहीं हुआ था। आजकल भी बहुतों का यह ख़याल है कि धूमकेतु केवल उल्कापिण्ड के झुण्ड हैं। एक समय एक धूमकेतु बृहस्पति ग्रह के समीपवर्त्ती हुआ था। इससे बृहस्पति का तो कुछ नहीं हुआ, उल्टा धूमकेतु का गमनपथ ही विचलित हो गया था।

धूमकेतु के संघर्षण की आशङ्का न रहने पर भी सौर जगत् के बाहर से क्या कोई और ग्रह पृथ्वी पर टूट कर नहीं गिर सकता? इस विषय के पक्ष तथा विपक्ष में कोई विशेष प्रमाण नहीं है। लाप्लास की गणना केवल सौर जगत् ही के लिए है। बाहर के किसी पदार्थ पर उस गणना का प्रयोग नहीं हो सकता।

कोई साहस कर यह नहीं कह सकता कि बाहर से कोई पदार्थ किसी समय आकर आकस्मिक प्रलय उत्पादन नहीं कर सकता। नक्षत्रलोक में इस प्रकार की आकस्मिक प्रलय-घटना के दो-एक दृष्टान्त भी देखे गये हैं। बीच बीच में एक-आध तारा जल कर भस्म होता हुआ देखा जाता है। एक ज्वलन्त तारा के प्रकाश को विश्लेषण करने से हुगिंस को ज्ञात हुआ था कि हाइड्रोजन अर्थात् उद्‌जान वाष्प के जल उठने से ऐसा हुआ था। हाइड्रोजन को जलाने से अवश्य जल उत्पन्न होता है। किन्तु हाइड्रोजन के जलने के समय उसकी आँच इतनी तेज़ होती है कि उसकी एक छोटी सी लपक में लोहे का पत्तर भी काग़ज़ की तरह जल सकता है। दूर के एक तारा में हाइड्रोजन का जल उठना कोई खेल नहीं है। ज्ञात होता है कि पृथ्वी के इतिहास में भी एक समय इस प्रकार की घटना हुई थी। आजकल वायु के मध्य में उद्‌जान नहीं है; परन्तु एक समय ऐसा था जब यह वायु में बहुतायत से वर्त्तमान था। अवश्य वह उद्‌जान का समूह किसी न किसी समय जला होगा, जिसके परिणाम में समुद्र की उत्पत्ति हुई है। और अब अवशिष्ट उद्‌जान के जलने की भी आशङ्का नहीं हो सकती। उद्‌जान के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ इतने परिमाण से नहीं है जिसके अकस्मात् जल उठने से प्रलयकाण्ड उपस्थित हो सके। ऐसी बात नहीं है कि दहन आदि रासायनिक क्रिया इस भूमण्डल पर सम्पादित न हो रही हों, पर वह कार्य्य इतना धीरे धीरे हो रहा है कि उससे विशेष आशङ्का नहीं की जा सकती; परन्तु समय समय पर भूकम्प के तथा

आग्नेयगिरि के आग उगलने के रूप में प्रादेशिक उत्पात हुआ करते हैं। हुगिन्स ने जो तारे का जल उठना देखा था, उसी प्रकार की घटना और भी कई एक बेर देखी गई है। अभी थोड़े दिन की बात है कि अरिगा नामक नक्षत्रपुञ्ज के निकट एक अदृष्ट-पूर्व तारा कुछ दिन तक जल रहा था। नहीं कह सकते कि इस आकस्मिक जल उठने का कारण आविष्कृत हुआ है या नहीं। इसका न होना भी सम्भव है कि आभ्यन्तरीण कारणवशतः सर्वत्र तारा जल उठते हों। लकियर का अनुमान है कि दो विशाल उल्काभुण्डों के संघर्षण से अरिगा में इस प्रकार की घटना हुई थी।

एक बात और है। पृथ्वी अपनी अन्तस्थ शक्ति के द्वारा यकायक फट कर खण्ड खण्ड हो सकती है या नहीं? भूमण्डल का भीतरी भाग अब भी बहुत तप्त अवस्था में है। अभी तक लोग यह विश्वास करते थे कि पृथ्वी का भीतरी भाग इतना गर्म है कि वहाँ सब वस्तुएँ तरल अवस्था में हैं।

लार्ड केलविन ने यह सिद्ध कर दिया है कि भूगर्भ चाहे जितना गर्म क्यों न हो, उसके ऊपर भूपृष्ठ का इतना अधिक भार है कि भीतरी हिस्सा द्रव अवस्था में नहीं रह सकता। द्रव अवस्था के न रहने के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। चन्द्र और सूर्य्य के आकर्षण के कारण समुद्र में जिस प्रकार ज्वार-भाटा का आन्दोलन सर्वदा बना रहता है, यदि पृथ्वी का भाग तरल होता तो वहाँ भी ऐसी ही अवस्था होती। वह अवस्था भूपृष्ठ के अधिवासियों के लिए सन्तोषजनक न होती। इस प्रकार के

आन्दोलन को न देख कर केलविन अनुमान करते हैं कि भूगर्भ कुछ नहीं तो ईस्पात की तरह कठिन है।

यह मानना पड़ता है कि पृथ्वी का पृष्ठभाग एक समय तरल अवस्था में रहा होगा। पृथ्वी को तारल्य अवस्था से काठिन्य में परिणत हुए कितना समय व्यतीत हुआ है इसकी भी गणना करने की चेष्टा की गई है। क्रमशः भूपृष्ठ शीतल, कठिन और ऊँचा नीचा हुआ है। भूपृष्ठ में कहीं कहीं दरारें हैं। कभी कभी गर्भस्थ पदार्थ इन दरारों के द्वारा प्रबल वेग से बाहर भी निकल पड़ते हैं। उस समय महाभयानक घटना होती है। इसको ज्वालामुखी का आग बरसाना कहते हैं। सन् १८८२ ई० में क्राकाटोयार ज्वालामुखी के द्वारा जो पदार्थ भूगर्भ से अन्तरिक्ष में फेंके गये थे वे पदार्थ बहुत समय तक वायुराशि में वर्तमान थे। हिसाब लगाने से ज्ञात हुआ है कि जो पदार्थ प्रति सेकेंड आठ मील के वेग से फेंका जाता है वह भूमि पर फिर लौट कर नहीं आता। सम्भव है कि कभी पृथ्वी के दो-एक भाग सर्वदा के लिए पृथ्वी से पृथक् हो गये हों। सर राबर्ट बाल का मत है कि इसी प्रकार की घटना से बहुत से उल्कापिण्डों की उत्पत्ति हुई होगी। जो हो, पृथ्वी के अन्तस्थ जो शक्ति वर्तमान है उससे क्राकाटोयार की तरह एक छोटा-मोटा प्रादेशिक प्रलय हो सकता है; परन्तु ऐसा नहीं ज्ञात होता कि उससे एक भविष्य प्रलय की सम्भावना है। इस प्रकार की आशङ्का नहीं की जा सकती कि भयानक अग्न्युत्पात होकर पृथ्वी द्विधा या सहस्रधा भग्न हो जावेगी।

लाप्लास ने गणना करने के समय ग्रहों की कक्षाच्युति के एक प्रबल कारण पर ध्यान नहीं दिया था। स्वयं लार्ड केलविन तथा उनके अनुवर्त्ती जार्ज डार्विन ने इसके सम्बन्ध में बहुत सी नई बातें कही हैं। चन्द्रमण्डल समुद्र की जलराशि को निरन्तर पृथ्वी के दैनिक आवर्त्तन के प्रतिकूल खींच रहा है। परिणाम में पृथ्वी के आवर्त्तन का वेग क्रमशः कुछ कुछ कम हो रहा है तथा चन्द्र की दूरी भी कुछ कुछ बढ़ रही है। एक समय ऐसा था जिस समय चन्द्रमण्डल वर्तमान समय की अपेक्षा बहुत निकट था। एक समय आवेगा जब चन्द्र हम लोगों से और भी दूर हो जावेगा। इस समय २४ घण्टे में पृथ्वी अपनी धुरी पर आवर्त्तित हो सूर्य्य की परिक्रमा करती है, उस समय ग्यारह सौ या बारह सौ घण्टे में आवर्त्तित हो सूर्य्य की परिक्रमा करेगी। इस समय इन छोटे ३६५ दिन का एक वर्ष होता है, उस समय वैसे बड़े बड़े सात या आठ दिन का एक वर्ष होगा। नहीं मालूम, मनुष्य जाति को उस दिन का मुँह देखना पड़ेगा या नहीं; परन्तु घटना अनिवार्य्य है।

जिस कारणवश चन्द्र पृथ्वी से क्रमशः दूर हो रहा है वही कारण पृथ्वी के सूर्य्य से क्रमशः दूर होने का होगा। पृथ्वी की कक्षाच्युति का यह भी एक कारण है। इसके परिणाम के लिखने की कोई आवश्यकता नहीं।

एक बात और है। यह स्थिर हो चुका है कि आकाश सर्वतोभाव से शून्य नहीं है। समस्त शून्यदेश में आलोकवाही तथा तड़ित्-तरङ्गवाही ईथर नामक पदार्थ व्याप्त है। पृथ्वी उस

ईथर को चीरती हुई अपने मार्ग पर भ्रमण कर रही है। जल और वायु पदार्थ के गमन में विघ्न डालते हैं। ईथर अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी कुछ बाधा पहुँचाता है या नहीं, इसके प्रमाण की आवश्यकता है। टेट साहब बहुत ढूँढ़-खोज करने पर भी यह पता नहीं लगा सके कि ईथर में यह गुण है या नहीं। एन्कि साहब द्वारा आविष्कृत धूमकेतु की कक्षाच्युति का ईथर के विघ्न की अपेक्षा दूसरा कारण भी हो सकता है। आजकल बहुत से आदमी साधारण जड़ पदार्थ के साथ ईथर के सम्बन्ध का निर्णय करने में प्रवृत्त हैं। ईथर को हटा कर चलने के समय ग्रह उपग्रह को किस प्रकार की बाधा पहुँचती है, इसका प्रतिपादन करने में कोई भी अभी तक समर्थ नहीं हुआ।

लार्ड केलविन एक प्रकाण्ड तत्त्व के आविष्कर्त्ता हैं। इसको 'जागतिक शक्ति का ह्रास' भी कह सकते हैं। सम्प्रति संसार में शक्ति नाना रूप से विद्यमान है; परन्तु शक्ति अपचयोन्मुखी है अर्थात् क्रमशः ह्रास हो चली है। शक्ति स्वयं गर्मी अर्थात् तप्त रूप में परिणत हो रही है। इसका परिणाम यह होगा कि एक दिन ऐसा आवेगा जिस समय शक्ति का और प्रकार-भेद नहीं रहेगा। समस्त शक्ति के समोष्ण ताप में परिणत होने से जगद्यन्त्र की गति बन्द हो जावेगी। ग्रह उपग्रह गति-रहित हो सूर्य्य से जा मिलेंगे। गतिहीन, तप्त अथवा शीतल, एक या बहुत से बृहत् पिण्ड का आकार ब्रह्माण्ड धारण करेगा। अभी तक ऐसा उपाय नहीं ज्ञात हुआ कि जो इस परिणाम को रोक सके। यदि उस समय तक वर्त्तमान नियमानुकूल पृथ्वी

की गति रही तो यह परिणाम अनिवार्य्य है। इस परिणाम को महाप्रलय कह सकते हैं।

हेलमहोलज्ज ने एक बड़ी भारी बात कही है। सूर्य्य हम लोगों की जीवन-शक्ति का मूल है। सूर्य्यमण्डल प्रचुर परिमाण से ताप-रश्मि निकाल रहा है। उसके एक कणमात्र से हम लोगों की उत्पत्ति, स्थिति एवं गति सम्पादित होती है। सूर्य्यमण्डल में जितनी ही गर्मी पैदा होती है और निकलती है, सूर्य्यमण्डल उतना ही घेरे में कम हो रहा है। सूर्य्य की परिधि प्रतिवर्ष ८० हाथ के लगभग कम हो रही है। हज़ार दो हज़ार वर्ष में हम लोगों को इस परिवर्तन का कुछ कुछ अंश ज्ञात हो सकता है। परन्तु ५० लाख वर्ष के पश्चात् सूर्य्य का आयतन वर्तमान आयतन का आठवाँ हिस्सा रह जावेगा। एक दिन ऐसा आने वाला है जब भगवान् भास्कर प्रभाहीन हो जावेंगे। गगनमण्डल का अनुसन्धान करने से इस प्रकार के दो एक ठंडे हुए सूर्य्यमण्डलों का पता लगा है। वही परिणाम हम लोगों के सूर्य्य का भी अवश्य होगा। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि उसके पहले पृथ्वी जीव-शून्य हो जावेगी।

प्रलय के विषय में विज्ञान की इस प्रकार की उक्ति है। ५० वर्ष व्यतीत हुए, डाक्टर ह्वीवेल ने उस समय के विज्ञान के मुख्य पात्र-स्वरूप होकर कहा था कि "डर नहीं है।" ५० वर्ष के पश्चात् पण्डित-मण्डली एक स्वर से कह रही है—"भरोसा भी नहीं है।" यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि प्रलय शब्द का प्रयोग दार्शनिक अर्थ में नहीं किया गया है।

नीति, तत्त्वज्ञान, विज्ञान आदि की कुछ चुनी हुई पुस्तकें ।

चरित्रगठन

यह पुस्तक बड़े परिश्रम से तैयार कराई गई है । इसमें उस कर्तव्य का वर्णन विशेष रूप से किया गया है जिसका पालन करने से मनुष्य अपने समाज में आदर्श व्यक्ति बन सकता है । इसमें वर्णित एक एक उपदेश लाख रुपये का है । अतएव क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या युवा, क्या स्त्री, सभी इस पुस्तक को एकबार अवश्य एकाग्र मन से पढ़ें और लाभ उठावें । मूल्य केवल १)

कर्त्तव्यशिक्षा

अपनी सन्तान को कर्त्तव्यशील बनाकर नीति-निपुण और शिष्टाचार-परायण बनाने की जिन्हें इच्छा हो उन्हें यह "कर्तव्य-शिक्षा" पुस्तक मँगा कर अपने बालकों के हाथ में जरूर देना चाहिए ।

मनुष्य-विचार

यह पुस्तक नहीं, यह तो मनुष्यमात्र के लिए वरदान है । इस पुस्तक में वर्णित उपदेशों के अनुसार चलने से मनुष्य का जीवन सुखमय तथा शान्तिमय बन सकता है और वह अपनी बुरी वासनाओं को छोड़कर अपना और दूसरों का बहुत कुछ उपकार कर सकता है । यह पुस्तक क्या स्त्री, क्या पुरुष सभी के काम की है । मूल्य ।)

कर्मयोग

स्वामी विवेकानन्दजी के कर्मयोग-सम्बन्धी व्याख्यान बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इनको सुनकर अमरीका आदि पाश्चात्य देशों के विद्वान् भी वेदान्त की ओर झुक कर आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने में लगे हुए हैं। इन्हीं व्याख्यानों का हिन्दी-अनुवाद बहुत ही ओजस्विनी भाषा में किया गया है। अध्यात्म-विद्या अथवा कर्मयोग के जिज्ञासुओं को यह पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिए। मूल्य केवल ॥)

गीता में ईश्वर-वाद

गीता में ईश्वर के सम्बन्ध में जो मत है उसकी पुष्टि उपनिषद्, वेदान्तसूत्र, सांख्यकारिका और पुराण आदि से प्रमाण उद्धत करके की गई है। यह वेदान्त का अपूर्व ग्रन्थ है। हिन्दूमात्र के देखने और मनन करने योग्य है। मूल्य केवल १॥।)

हर्बर्ट स्पेन्सर की ज्ञेय-मीमांसा

इसके लेखक हैं लाला कन्नोमल एम० ए०। हर्बर्ट स्पेंसर विख्यात दार्शनिक थे। योरप पर उनके सिद्धान्तों का ख़ासा असर पड़ा है। मानवीय ज्ञान के सम्बन्ध में उक्त साहब की की हुई विवेचना सरल भाषा में, सबके समझने योग्य, लिखी गई है। मूल्य केवल ।-)

सुखमार्ग

पुस्तक के नाम से ही उसका विषय प्रकट है। जो लोग दुखी

हैं और दिन-रात सुख की खोज में माथा-पच्ची किया करते हैं। उनके लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। मूल्य केवल ।=)

सदुपदेश-संग्रह

सब देशों के ऋषि, मुनि और महात्माओं ने अपने बनाये हुए ग्रन्थों में जो उपदेश लिखे हैं उन्हीं में से छाँट छाँट कर यह किताब बनाई गई है। सब तरह के मनुष्यों के लिए उपदेश हैं। उनसे सभी सज्जन, धर्मात्मा, परोपकारी और चतुर बन सकते हैं। मू० केवल ।=)

उपदेश-कुसुम

यह फ़ारसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ गुलिस्ताँ के आठवें बाब का हिन्दी-अनुवाद है। पढ़ने योग्य और शिक्षादायक है। मूल्य ≡)

ऋद्धि

जो लोग भाग्य के भरोसे रह कर दरिद्रता की कीचड़ में फँसे रहने पर भी ऋद्धि को प्राप्त करने का कुछ उपाय नहीं करते उनके लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। उदाहरण के लिए इस पुस्तक में उन अनेक उद्योगशील, निष्ठावान् कर्मवीरों का संक्षिप्त जीवनचरित दिया गया है जो अपने अध्यवसाय से व्यापार करके, दरिद्रता से पीछा छुड़ा, करोड़पति हो गये हैं। ऐसी उत्तम पुस्तक का मूल्य सजिल्द होने पर भी केवल १।।।)

पुस्तकें मिलने का पता—

मैनेजर, इंडियन प्रेस, लिमिटेड प्रयाग।